जीवनसंगिनी

को

सप्रीति

प्रकाशकीय वक्तव्य

हिन्दी के सुपरिचित लेखक और चिन्तक श्री माधवजी के इन संस्मरणों में जीवन के चढ़ाव-उतार की ऐसी मनोहारिणी दृश्यावलियां मिलेंगी जहां पाठक का मन-प्राण सहसा विरम कर रस लेना चाहेगा परन्तु शैली मे वह तेज बहाव और रवानी है जो पाठक के मन को अनायास अनजाने कहाँ का कहाँ बहा ले जाती है। पुस्तक आरंभ करने के बाद समाप्त किये बिना आप मान नहीं सकते ऐसा दावा 'जीवन के चार अध्याय' के लिए किया जा सकता है।

कैसी-कैसी विकट घाटियाँ और दम तोड़ने वाली चोटियाँ जीवन-पथ में माधव जी ने पार की हैं, और की हैं हँसते हँसते। कोई भी अन्य व्यक्ति थक कर चूर-चूर हो गया होता या टूट गया होता। कैसी कैसी अग्नि-परीक्षाओं में से माधवजी को गुजरना पड़ा है और शायद अभी भी गुजरना पड़ रहा है, पड़ता रहेगा! परन्तु क्या आश्चर्य कि जीवन की इन तमाम परीक्षाओं में से ये कुंदन की तरह चमक कर निकले हैं। प्रतिकूलताओं में ही माधवजी का जीवन खिला है।

माधव जी की शिक्षा-दीक्षा एक महात्मा का प्रसाद है अतएव उसमें 'प्रसाद' की शुचिता, सुगंध एवं सुषमा है—और शायद इसीलिए माधवजी 'दो पाटन के बीच में साबित' बच गये। आध्यात्मिकता और राष्ट्रसेवा जिसे वे मातृ-सेवा कहना अधिक पसंद करेंगे—उनके समस्त जीवन-व्यापार में अनुस्यूत है। सम्पूर्ण जीवन ही श्री माँ के चरणों में निःशेष आत्मविसर्जन और मूक समर्पण का मधुर, मनोहारी उदाहरण है। लगता है जैसे श्री माँ के चरणों मे माधवजी ने अपने जीवन की अगरबत्ती जला दी है जिसकी सुरभि से माँ का मन्दिर सुहासित और सुवासित है।

क्या छात्र जीवन, क्या बंदी जीवन, क्या सम्पादकीय और क्या अध्यापकीय जीवन सर्वत्र अखण्ड भाव से, यहाँ से वहाँ तक, श्रीकृष्णार्पण का रस ओतप्रोत है—उस दिव्य रस का माधुर्य कैसा होता है सहृदय पाठक इस ग्रंथ में अनुभव करेंगे।

हंस अकेला जाय

पीछे मुड़ कर देखने पर अपना ही जीवन कितना रहस्यमय, मादक और मोहक प्रतीत होता है। कैसी-कैसी स्मृतियों की ऊर्मियाँ उमड़तीं हैं। देश, काल और व्यक्तियों के कैसे-कैसे चित्र अपने ही अंदर उभरते हैं। और तो और, अतीत के कष्ट और कठिनाइयाँ, विघ्न और बाधाएँ, दुःख और शोक भी कितनी पावन सुषमा और दिव्य सुरभि का संस्कार छोड़ कर छिप जाते हैं! लगता है, स्पष्ट ही एक अदृश्य योजना जीवन-निर्माण में संलग्न है। प्रभु की कृपा का सूत्र मिल जाने पर सभी परिस्थितियों में मंगलमय उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है।

इन अस्तव्यस्त संस्मरणों को पुस्तक का रूप देने में सुहृद्वर श्री रञ्जन सूरि देव का मुख्य हाथ है। बड़े परिश्रम एवं लगन से 'अनुक्रणिका' भी आपने ही तैयार की और सम्मेलन मुद्रणालय ने इसे बड़ी तत्परता से मुद्रित किया तथा 'लोकभारती' ने इसके वितरण का दायित्व स्वीकार किया इन सबके प्रति हृदय से मैं कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ। सबके ऊपर तो श्री माँ की कृपा है ही।

श्री रामनवमी, २०२३ वि०
राजेन्द्रनगर पटना

माधव

परिचय

जन्म : पौष १९६४ वि०
मिश्रौली, शाहाबाद, बिहार

शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बंदी-जीवन : [राजविद्रोह के विविध अभियोगों में]
सेंट्रल जेल, बक्सर, डिस्ट्रिक्ट जेल, आरा, मलाका जेल, इलाहाबाद

सेवाएँ : सम्पादन :

"भविष्य" और "चाँद", प्रयाग
"सनातन धर्म", काशी
"कल्याण" एवं "कल्याण कल्पतरु", गीता प्रेस, गोरखपुर
"परिषद्-पत्रिका", बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

अध्यापन : अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जैन कॉलेज, आरा
प्राचार्य, सच्चिदानन्द सिंह कॉलेज, औरंगाबाद
रीडर, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

राजकीय : उप-निदेशक, समाज शिक्षा, एवं सचिव समाज शिक्षापर्षद्, बिहार
निदेशक, पाठ्य ग्रंथ शोध-संस्थान, निदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रकाशन : —[कालक्रमानुसार]

१. मीरा की प्रेम-साधना (२) संत साहित्य (३) मेरे जनम-जनम के साथी (४) धूपदीप (५) संत-वाणी (६) हँसता जीवन (७) पूजा के फूल (८) दी फिलासफी ऑव वल्लभाचार्य (९) राम-भक्ति साहित्य में मधुर उपासना (१०) श्री अरविन्द चरितामृत (११) जीवन के चार अध्याय

अभिरुचि : पर्यटन, और संतरण

ईरए

अध्याय १

छात्र-जीवन

अपने छात्र-जीवन के सोलह-सत्रह वर्षों पर जब दृष्टि जाती है, तब लगता है, भयंकर घाटियों और सुखद चोटियों पर चढ़-उतरकर अनेक कटु-मधु अनुभवों का रस लेते हुए ऐसे पुण्यश्लोक स्वनामधन्य वरेण्य गुरुओं के पावन चरणों में बैठने का अवसर पा सका हूँ, जिसे नितान्त भगवत्कृपा के सिवा और क्या कहा जाय? प्राइमरी शिक्षा का शुभारंभ अपने गाँव की पाठशाला में ही हुआ—मुझे वह घड़ी ठीक-ठीक याद है, जब हवन आदि के उपरान्त मुझे 'श्रीगणेशायनमः', 'श्रीसरस्वत्यै नमः' का उच्चारण करना सिखलाया गया था। परन्तु, इस श्रीगणेश के पहले ही घर पर बाबा ने मुझे 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन' तथा 'भए प्रकट कृपाला दीनदयाला' घोखा दिया था, फलतः स्कूल में प्रार्थना कराने का 'भार' शुरू से ही मुझपर आ पड़ा। मैं आगे बोलता, शेष सभी पीछे-पीछे। बड़ा मजा आता, जब प्रार्थना के समय गाँव के दस-पाँच आदमी 'तमाशा' देखने आ जाते। प्रार्थना दोनों शाम होती। आरम्भ 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' से होता और अन्त में 'सियावर रामचन्द्र की जै' बोली जाती। उस प्रार्थना में भले ही रूटीन-भावना ही मुख्य हो, परन्तु उसका बड़ा ही निर्मल और जीवनव्यापी प्रभाव पड़ा—ऐसा अबतक प्रतीत होता है।

हमारे प्रथम-प्रथम गुरुजी थे श्रीअवधकुमार लाल। वे बैरिया (बलिया) के कायस्थ थे—दुबले-पतले, साँवले-से, छरहरे बदन के बड़े ही तेज व्यक्ति। मारने में परम कुशल, एकदम जल्लाद! खजूर की कई छड़ियाँ सवेरे आतीं और शाम होते-होते हम छात्रों की पीठ पर टूट जातीं। उन्हें देखकर कइयों को धोती में पेशाब हो जाता। क्या मजाल कि उनकी उपस्थिति में कोई 'चूँ' भी कर सके। खूब मन लगाकर पढ़ाते, परन्तु थोड़ी-सी गलती पर भी बेहद मार मारते। छड़ी तुरंत हाथ न लगे, तो रूलर, नहीं तो खड़ाऊँ से ही खबर लेने लगते। हममें से कइयों को रोज हल्दी चढ़ती, माताएँ सिसकतीं। पर, क्या गजब का था उनका अनुशासन कि कोई अनुपस्थित होने का बहाना बनाये, तो उसे घसीटकर मँगवाया जाता और फिर उसकी 'आँद-वाद' होती, खूब मरम्मत होती।

हमारे गाँव के एक तेली महाशय थे रामजतन। वे प्रायः स्कूल में पधारते और हम लोगों को कोई देशी हिसाब—'शुभंकरी' लिखाते, जो प्रायः महाभयंकरी सिद्ध होता। मैं हिसाब में बहुत कच्चा था, सो भी शुभंकरी तो मुझे कतई आती ही

नहीं थी। इतने रुपये इतने आने इतने पाई मन, तो इतने मन इतने सेर इतने छटाँक का दाम मुझसे तब भी नहीं लगा और आज तो एकदम नहीं लगता। मैं स्लेट पर 'सवाल' लिखकर दाहिने-बायें ताकने लगता कि कहीं से उत्तर मिल जाय, तो नकल कर लूँ, परन्तु दाहिने-बायेंवाले लड़के मुझे पिटवाने के लिए अपनी स्लेटें खूब छिपा लेते। मेरी पुकार होती। मैं स्लेट लेकर गुरुजी के सामने खड़ा थरथर काँप रहा हूँ और छड़ी की वर्षा हो रही है—दस, बीस, पच्चीस, कुछ गिनती नहीं—हाय राम, किस जल्लाद के पाले पड़ा ? नित्य शाम को प्रार्थना के बाद पूछा जाता—'छड़ी मीठ कि गुर मीठ' और रेडीमेड उत्तर देना पड़ता, 'छड़ी मीठ।' कहीं निगोड़ी छड़ी भी मीठी हुआ करती है!

लगातार मार खाते-खाते हमलोगों में से अधिकांश 'हेहर' या 'थेथर' हो गये थे। पर, मुझे इस विषम स्थिति से किसी प्रकार पिंड छुड़ाना था। हम तीन-चार छात्रों ने चुपचाप गाँव छोड़कर नदी के किनारे-किनारे छिपकर दूर भागने का प्रोग्राम बनाया। आम के दिन थे —खाने-पीने की कोई समस्या न थी। सवेरे-सवेरे हमलोग भाग निकले—पर आम पर कबतक चलता ? उम्र अभी सात-आठ की थी—भूख से पेट कुलबुलाने लगा। पास के एक गाँव में पहुँचे। देहात में जैसे कभी-कभी भैंसें बहककर इस गाँव से उस गाँव में चली जाती हैं, वही हाल हम लोगों का था। गाँव के एक भले आदमी ने हमलोगों को अपने यहाँ बड़े प्यार से खिलाया-पिलाया और सोने का प्रबन्ध कर हमारे गाँव आदमी दौड़ा दिया। हम लोग पकड़े गये और लौटने पर जो पिटाई हुई कि छट्ठी का दूध याद आ गया। फिर, भागने का नाम नहीं। परन्तु, मेरा मन पढ़ने से एकदम उचट गया था—बराबर भागो-भागो लगा रहता था। साहित्य मेरा अच्छा था, गणित कमजोर। गणित के समय रोज 'छड़ी मीठ' का तीता अनुभव करना पड़ता। मेरे बाबा बड़े आस्तिक पुरुष थे। 'रामचरित-मानस' उनका प्राण था। वे मुझे अपने कंधे पर बिठाकर पास के एक गाँव में एक साधु के पास ले गये। जटाजूट धारे कौपीन पहने उस 'मौनी बाबा' की याद आजतक ताजी है। मेरे बाबा ने मौनी बाबा के चरणों में मुझसे साष्टांग दण्डवत करवाया और मेरे उच्चाटन का दुःख निवेदित किया। साधु ने भभूत दी। मेरे सिर पर हाथ फेरा, पीठ ठोंकी और इशारा किया कि इसे ले जाओ, अब खूब मन लगाकर पढ़ेगा और अच्छा पढ़ेगा—सचमुच उस दिन से पढ़ने-लिखने में ऐसा मन लगा कि अबतक वह प्रसाद-आशीर्वाद अपना चमत्कारी प्रभाव दिखाये जा रहा है।

हाँ, लोअर प्राइमरी में गुरुजी ने 'दिनचर्या' लिखाने की आदत डाली। उन

दिनों क्या लिखते—आज सुन्दर फूल देखा, आज तितली देखी, आज नदी मे खूब बाढ है, आज सूर्योदय बड़ा सुन्दर हुआ, आज खूब तैरे इत्यादि-इत्यादि। उस दिनचर्या लेखन से प्रकृति की शोभा और सौन्दर्य की ओर मनप्राण उन्मुख हुए, जो अबतक वैसी ही सरलता के साथ उन्मुख हैं।

उन दिनों स्कूलों के सबइन्स्पेक्टर न थे, 'सकिल पडित' हुआ करते थे, जो प्रायः टट्टू पर अपना सामान लादे गाँव-गाँव स्कूलों का निरीक्षण करते थे। वार्षिक परीक्षा भी वे ही लेते थे। हमारी वार्षिक परीक्षा के समय गाजीपुर के एक सकिल पंडित सहदेव पाडेय आये थे—गोरे-गोरे से—कोट, टोपी चमरौंधा जूता पहने। उन्होंने एक दोहा अर्थ करने के लिए दिया—

साँच बरोबर तप नहीं,
झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदं साँच है,
ताके हिरदं 'आप'॥

'आप' का अर्थ हमलोगों से नहीं लग सका, आज भी उस आपका पूरा-पूरा सही-सही अर्थ कहाँ लग पाता है? परन्तु हम लोग पास हो गये। घर मे बड़ी प्रसन्नता थी। माँ ने एक रुपये के गोरखपुरी ढेबुए मुझपर 'ओईंछ' कर बाँट दिये। उन दिनों के गोरखपुरी एक ढेबुआ में आज के सौ नहीं, तो पचास-साठ पैसे होंगे।

'लोअर' पास कर 'अपर' में जाना था—गाँव से तीन मील दूर। एक घोड़े पर मैं और मेरे चाचाजी जाते, घोड़ा स्कूल में खोल दिया जाता, शाम को उसी पर सवारी कर लौटते। 'टिफिन' के लिए घर से कुछ लाते या वहीं बाजार में दो-एक आने का भर-पेट जलपान करते।

एक दिन पैदल ही स्कूल जाना था। रास्ते मे बाजार पड़ता था, एक तमोली की दूकान। उसकी 'कनौसी' भूल गई थी—मैंने पाकर उसे दे दिया। अब वह मेरा भक्त बन गया और हर तीसरे-चौथे दिन बीड़ी का एक बंडल दे दिया करता। रात को सबके सो जाने पर मैं चुपके बीड़ी सुलगाता और मजे लेता। किसी तरह बात खुल गई और स्कूल के हेडपंडित पं० राजा चौबे ने बुला-कर, फोल्हाकर पूछा—'दो चार बीड़ी रोज पीने मे कोई हर्ज तो नहीं होता, खाने के बाद पीने से बड़ा आराम मिलता है। तुम कितनी पीते हो?' मैंने कहा—'रोज दो बीड़ी।' बस पंडितजी के हाथ का बेंत बरसने लगा मुझ नये बीड़ी-साधक पर—इतना बरसा, इतना बरसा कि तब से सदा के लिए धूम्रपान

को नमस्कार कर लिया—सचमुच क्या गुड़ की अपेक्षा जीवन मे छड़ी मीठी नहीं होती ?

मिड्ल स्कूल का वातावरण कुछ भिन्न तो जरूर था, परन्तु वहाँ भी सामने ही इमली का पेड था, जिसपर हम सभी कच्ची इमलियों से लेकर पकने तक खूब ढेले चलाया करते थे। कच्ची और पक्की के बीच की स्थिति और भी आकर्षक थी—देखते ही मुंह मे पानी आ जाता, फिर होती ढेलेबाजी। क्लास छूट रहा है, तो छूटने दो, इमली खाना अधिक आवश्यक है। इमली होती है बड़ी चिमड़ी, इसलिए उसपर काफी प्रहार करना पडता था, तब कहीं हाथ लगती थी।

यहाँ एक खैनिहा दोस्त मिले। बतलाया कि 'खैनी' (सुर्ती) खाने से बुद्धि खुलती है—मन साफ रहता है, दाँत मजबूत होते हैं और शौच खुलासा उतरता है। फिर क्या था, इतने सारे विज्ञापन एक नये-नये अनुसन्धित्सु के लिए पर्याप्त मोहक सिद्ध हुए। एक दिन उसी मित्र के साथ सन्ध्या समय सुर्ती का एक डबल डोज लेकर ज्योंही शौच के लिए बैठा कि चक्कर खाकर गिर गया और मुंह से फेन आने लगा। वे मित्र घबडाये कि यह क्या हो गया। जिस किसी प्रकार मुझे सहारा देकर डेरे ले आये, तो मेरे चाचाजी ने खूब खबर ली—लात-जूतों से। बाद में स्वयं चाचाजी ही इस लत के शिकार हो गये और अबतक विधिवत् उसका सेवन करते हैं। मैं देखता हूँ कि देश के बडे-बड़े लोग इस 'ज्ञानवर्धिनी' का सेवन करते हैं, तो मुझे कभी-कभी खेद होता है कि आखिर यह 'देशी लत' रहती ही, तो क्या बुरा होता। निरालाजी, वाजपेयीजी, दिनकरजी, रसालजी, गोरख बाबू, कपिलजी, केसरीजी, कितने नाम गिनायें—सुर्ती इनके लिए 'सुरति' है—फिर मेरे ही लिए यह क्यो 'निरति' सिद्ध हो गई—

जाहिद मुझे तू पीने दे मस्जिद में शराब।
या वह जगह बता जहाँ पर खुदा नहीं॥

मिड्ल स्कूल के सेक्रेटरी थे बाबू हरिनारायण सिंह। अपने समय के बड़े ही दबंग नेता और विचारक। स्कूल के काम में वे खूब दिलचस्पी लेते थे—एक-एक बात पर नजर थी उनकी। छात्रो मे सेवाभाव भरने मे उन्हें विशेष आनन्द आता था। पास ही ब्रह्मपुर का मेला सावन और बैशाख मे बडे ही विशाल एवं व्यापक ढंग से लगता था। जहाँ प्रति वर्ष हम लोग 'स्वयंसेवक-संघ' के रूप मे सेवा करने, यात्रियों को आराम पहुंचाने, मन्दिर मे ठीक-ठीक उन्हें दर्शन कराने आदि के लिए भेजे जाते थे—स्वयं बाबू हरिजी कैंप मे रहते थे और घूम-घूमकर हम-लोगो के काम पर निगरानी रखते थे। शाहपुर मे एक बार जोरो का 'इन्फ्लुएंजा'

फैला—प्रायः प्रत्येक घर में उसका प्रकोप हुआ। सारा शहर मुहल्लों में बाँट दिया गया और प्रत्येक मुहल्ले के लिए छात्रों की एक-एक टोली बना दी गई, जो अस्पताल से दवा लाती, रोगी का टेम्परेचर लेती, पथ्य आदि की व्यवस्था करती, उनका शौचादि साफ करती। इस प्रकार निस्पृह सेवा का रस मिला, बीजारोपण हुआ, उसका सारा श्रेय श्रद्धेय स्वर्गीय बाबू हरिजी को है।

बाबू हरिजी सिर से पैर पर तक राष्ट्रीय व्यक्ति थे—परन्तु उनकी नीति आन्दोलनात्मक न होकर रचनात्मक थी और इस मामले में वे गोखले के अनुयायी थे। सन् १९०६ ई० से जब से 'बंग-भंग और वन्देमातरम्'-आन्दोलन शुरू हुआ, उन्होंने कोई भी विदेशी वस्तु ग्रहण नहीं की। यहीं तक नहीं, वे प्रायः अपने गाँव में तैयार कपड़े और जूते इस्तेमाल करते थे। बाहर-बाहर वे बड़े ही सूखे-सूखे लगते थे, परन्तु अन्तस् में स्नेह का सागर उमड़ता रहता था। एक बार स्कूल के एक जलसे में मैंने एक कविता की कुछ पंक्तियाँ सस्वर सुनाई—गद्गद हो मुझे गोद में उठा लिया, और एक पुस्तक 'जयद्रथवध' मुझे स्नेहपूर्वक आशीर्वाद में दिया। वे पंक्तियाँ थीं—

> हे हरि ! ऐसो दिन कब अइहैं
> भारत के धन भारत रहिहैं कबहूँ विदेस न जइहैं।
> बढ़िहैं प्रेम एकता दिन-दिन बैर-द्वेष बिनसैहैं॥

उनके आशीर्वाद से अंकित वह पुस्तक अबतक मेरे पास सुरक्षित है—'हनुमानचालीसा' बहुत बचपन में मेरे जीवन में प्रवेश कर गया था। रात को भोजन के लिए दरवाजे पर से घर जाने में तीन-चार आँगन और ड्योढ़ियाँ पार करनी पड़ती थीं—द्वार पर से ही जय हनुमान ज्ञानगुनसागर शुरू कर देता और भूत-पिशाच निकट नहिं आवें, महावीर जब नाम सुनावें का जोर-जोर से उच्चारण करता। इतने में घर पहुँच जाता और भोजन कर चुकने पर माँ या दादी के साथ अन्धकार-लोक को पार कर द्वार पर आता। अन्धेरे में जब भी बाहर निकलना होता, 'हनुमानचालीसा' का मन-ही-मन पाठ शुरू हो जाता और तत्काल भय भाग जाता। संकटमोचनाष्टक भी कंठस्थ था। को नहिं जानत है जग में प्रभु संकट-मोचन नाम तुम्हारो की बार-बार आवृत्ति करता और निश्चिन्त हो जाता। अब तो बाबू लोहा सिंह के 'फाटकजी' ने इसे हास्य का अपूर्व आलम्बन बना दिया है। मिड्ल स्कूल के पूरब पीपल तले हनुमानजी का एक भव्य, विशाल मन्दिर है, वहीं बैठकर मैं पूरा 'हनुमानचालीसा' और 'संकटमोचनाष्टक' सस्वर सुनाता। बचपन से अबतक अपने में निर्भयता का मुख्य कारण मैं इन्हीं दोनों स्तोत्रों को मानता हूँ।

श्रीहनुमानजी का अशेष अनुग्रह वचपन से ही मुझे प्राप्त है, जिसका पग-पग पर अनुभव होता रहा है। जयश्री मारुति प्रसन्न!

हाई स्कूल मे खुली हवा और गार्जियन-रहित वातावरण मे उन्मुक्त साँस लेने का अवसर मिला। एक वकील साहब का मकान किराये पर लिया गया, नौकर-चाकर रसोइयें आदि की व्यवस्था हुई—ठाठ बँधा। वकील साहब के दो लड़के उसी स्कूल में पढ़ते थे, जिसमे मेरा नाम लिखाया गया। देखा-देखी शौकीनी आई—अँगरेजी वाल, अँगरेजी जूते, मोजे, अद्धी का बँगला कुरता, लखनवी दुपलिया टोपी, रेशमी चादर ये सब आ गये। स्कूल डेरे से नजदीक ही था—इसलिए टिफिन के पहले एक ड्रेस, टिफिन के वाद दूसरा ड्रेस, खेल के मैदान में तीसरा ड्रेस। तेल-साबुन का शौक बढ़ा—कंघा-शीशा सब आ गया। फिर क्या था, छैल-छबीला वना फिरता। पढने मे अब काफी अच्छा हो गया था, प्राय. प्रथम रहता, इसलिए छात्रो और अध्यापकों की विशेष दृष्टि का अधिकारी बन गया। 'यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता' सबका शुभागमन, फिर कुसंग मे क्या देर होती। दो-एक अध्यापक भी ऐसे मिले, जिन्होंने 'कुसंग' को बढ़ावा दिया। डेरे मे एक बंगाली वैक्सिनेटर सीतानाथ दास रहता था, जिसने धीरे-धीरे मत्स्य-मास की ओर मुझे दीक्षित किया और फिर गंदी जगहों मे ले जाने लगा।

एक रात की घटना याद है। आरा मे सोमारी मेला देखने सीतानाथ के साथ मैं गया था। सीतानाथ ने एक अँधेरी गली मे सीढ़ी की ओर मुझे इशारा किया, ऊपर ले गया। देखता हूँ, एक सजी-धजी महिला सामने खड़ी है—एक मीठी-मुस्कान के साथ स्वागत कर रही है—मैं पसीने-पसीने हो गया, थर-थर पैर काँपने लगे। लगा यही गिर जाऊँगा वेहोश होकर। उस दयामयी महिला (?) ने मेरा संकट समझा और सीतानाथ को इशारा किया कि इन्हें ले जाओ। घर आकर मैंने सारी वात अपने चाचा से सुना दी। सीतानाथ निकाल दिया गया और इस विशेष क्षेत्र में मेरा प्रथम असफल अनुभव अपने-आप मे अन्तिम सिद्ध हुआ।

परन्तु, अभी कुमग का अन्त हुआ नहीं था। कुछ अध्यापकों का प्रोत्साहन भी मिल रहा था। राम की कृपा और हनुमान की करुणा से ही घोर कुसंग की भयंकर अमावस्या में गीता मिल गई और फिर तो एक भुक्खड़ की तरह मैं उसपर टूट पडा। श्लोक तो श्लोक, अर्थ भी घोख लिया। समझता-वूझता था खाक-पत्थर, परन्तु 'गीता' के नामोच्चारण मे मनप्राण मे एक पवित्रता की बिजली-सी दौड जाती थी। कहूँ तो कह सकता हूँ कि गीता मैया ने मुझे बाँह पकड़कर खीच लिया कुसंग से और तब से गीता माता का परमपावन संग कभी मुझसे छिना नही। वह

अधिकाधिक निकट आती गई और आती क्या गई आकर हृदय में समा गई, हृदय के सिंहासन पर सदा के लिए अपना आसन जमा लिया।

हाई स्कूल का आरंभिक जीवन मौज-मजे का था—खूब चहल-पहल शौक-मौज। नौकर-चाकर रसोइया सब थे; ऊपर से रात को पढ़ाने के लिए दो-दो ट्यूटर। डेरे का खर्च २५०-३०० रु० मासिक था। खूब पैसे आते थे, खूब चैन की वंशी बजती थी। हम तीन छात्रों में खूब होड़ थी—मैं, देवराज (अब डॉ० देवराज उपाध्याय) और रसीला (अब आर० आर० पी० सिन्हा)। देवराज इतिहास और अँगरेजी में अच्छे थे, रसीला गणित और भूगोल में, मैं हिन्दी और संस्कृत में। संस्कृत में मुझे शत-प्रतिशत अंक मिल जाते थे; क्योंकि मैट्रिक करने के पहले मैं 'प्रथमा' कर चुका था और 'तर्कसंग्रह', 'अमरकोष', 'रघुवंश', 'लघु-कौमुदी', अधिकांश घोख चुका था। रसीला भी गणित में शत-प्रतिशत लाते, परन्तु उनके भूगोल से मेरी हिन्दी अधिक तगड़ी थी। देवराज की अँगरेजी और इतिहास उन्हें ऊँचे-से-ऊँचे अंकों में भी हमलोगों से पीछे छोड़ जाती थी—चुनांचे हम लोगों में भयंकर प्रतिद्वन्द्विता रहती थी—प्रायः मैं प्रथम, रसीला द्वितीय और देवराज तृतीय रहते। अपने गणित के कारण कभी-कभी रसीला बाजी मार ले जाते, परन्तु कुल मिलाकर हमलोगों का था 'कट थ्रोट कम्पिटीशन'—जानलेवा प्रतिस्पर्धा?

संस्कृत के पण्डित स्व० भवानीदत्त पाण्डेय अपने शारीरिक डीलडौल, लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई और घोर भीषण गर्जन-तर्जन के लिए प्रसिद्ध थे। वे जब पढ़ाने लगते, तब क्लास क्या, स्कूल की सारी बिल्डिंग गरजने लगती। काली अचकन पर रेशमी साफा, रेशमी चादर और मस्तक पर चन्दन खूब फबता था।

गाजीपुर जिले में कोई रेवतीपुर गाँव है—मेरा भाग्य (सौभाग्य ही समझिए) कि अपर, मिड्ल और मैट्रिक में मुझे वहीं के हिन्दी-अध्यापक मिले। रेवतीपुर ने हिन्दी को खासे अच्छे पण्डित दिये हैं—वे सब-के-सब मात्र हिन्दी के भक्त ही नहीं होते थे, अपने छात्रों में हिन्दी-प्रेम जगाने में भी परम प्रवीण थे। मैट्रिक में मेरी हिन्दी चमकने लगी थी और हर विशेष अवसर पर मेरी पुकार होती थी। परन्तु, इस बात का मुझे बराबर खेद रहा करता था कि हाई स्कूल में प्रार्थना क्यों नहीं हुआ करती। मिड्ल तक जो प्रार्थना चली, वह थी—

हे प्रभो ! आनन्ददाता,
ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को,
दूर हमसे कीजिए॥

लीजिए हमको शरण में,
हम सदाचारी बनें।
ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक,
वीर व्रतधारी बनें॥

बहुत बाद मे पता लगा कि यह स्वर्गीय प० रामनरेश त्रिपाठी रचित थी। हम तीनों —देवराज, रसीला और मैं—शिक्षा के क्षेत्र मे ही रह गये—देवराज अब राजस्थान के उदयपुर-विश्वविद्यालय मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं—नव मनोविज्ञान का आधुनिक कथा-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस विषय में उनकी दृष्टि बडी ही प्रोज्ज्वल है और इसपर उनके कई ग्रन्थ हैं। रसीला अब एक हायर सेकेण्ड्री के प्रिंसिपल हैं—और आर० आर० पी० सिन्हा के नाम से विख्यात हैं। गणित और भूगोल पर उनके कई ग्रन्थ पाठ्य-पुस्तक के रूप से वर्षो से चल रहे हैं। लिहाजा हम तीनो मे रसीला ने ही व्यावहारिक 'दुनिया' को ठीक-ठीक समझा है।

सुख के दिन, शौक-मौज के दिन अपने पूरे उभार पर आने को थे कि एका-एक भाग्य का आकाश बादलों से घिरा और मेह के बदले ओले गिरने लगे, बिजली तड़कने लगी—जैसे कोई शिकारी 'शिकार' की टोह में हो और शिकार हाथ लग जाने पर भीषण अट्टहास कर रहा हो। एक के बाद दूसरी, तीसरी, चौथी ऐसी घटनाएँ घटने लगी, जिन्होंने बलात् मेरे जीवन के प्रवाह को ही मोड दिया, मेरे सपने टूट गये और मैं ठोस जमीन, पैर टिकाने के लिए खोजने लगा। पिताजी का देहान्त, जलियांवाला बाग का लोमहर्षक काण्ड, लोकमान्य तिलक का देहान्त, महात्मा गाधी का आरा-आगमन, और अन्ततः सी० आर० दास का आरा के बाजारी साह के गोले मे भाषण।

पिताजी पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश एन० डब्लू० एफ० पी० के ऐबटाबाद, मालाकन्द, नौशेरा, कोहाट और रावलपिण्डी में मिलिट्री कन्ट्रैक्टर थे—कमिसैरियट का काम—सूई से तम्बू तक और दियासलाई से घी-दूध तक सारा-का-सारा ठेका उनका था—दो कम्पनियों मे—१।६ गोरखा राइफल्स, ३।४ गोरखा राइफल्स। कचन का मेह बरसता था। सैकड़ो आदमी-जन काम करते थे। पूरा दबदबा था। नौशेरा मे उनका अचानक देहावसान मेरे लिए वज्रपात सिद्ध हुआ। विलास मे बही जाती हुई जिन्दगी धक्के खाकर किनारे की ओर आना चाहने लगी। दाह-संस्कार मैंने किया—उनकी 'बर्षी' तक जमीन पर सोया, फलाहार करता रहा। सिले हुए कपडे और चाम के जूते धारण करना मना था। इस नियम ने मेरे अन्दर घोर विरक्ति का जन्म दे दिया और मेरी मनोदशा पहले के सब संस्कारों

से सर्वथा मुक्त होकर अन्तर्मुखी होना चाहती थी। इसी बीच लोकमान्य तिलक का देहावसान हुआ। हम लोग नंगे पैर, नंगे सिर गंगाजी तक गये, स्नान किया, तिलांजलि दी। लगा, जैसे अपने घर का स्वामी चला गया। उस समय की दो पंक्तियाँ स्मरण हैं—

रंकों की निधि लुट गई, देश हुआ कंगाल है।
बिना तिलक सूना हुआ भारत माँ का भाल है॥

तिलक का देहावसान और जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड ने मेरे सारे अस्तित्व के रेशे-रेशे को अपने प्रभाव से अभिभूत कर दिया। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक 'राष्ट्रीय सप्ताह' मनाया गया, व्रत रखा गया, सभाएँ हुईं, जुलूस निकाले गये—क्या-क्या न हुआ। इसी के ठीक बाद गांधीजी, मौलाना आजाद, मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना शौकत अली तथा अलीबंधुओं की माता आरा आईं। गोरक्षिणी के मैदान में वृहत् सभा हुई। गांधीजी उन दिनों कुरता, धोती, टोपी, चप्पल पहनते थे, ऊपर से दोहर ओढ़ते थे—चश्मा तो था ही। मौलाना आजाद सरहदी शैली का रेशमी साफा बाँधे हुए थे—अलीबंधु रोएँदार टर्किश कैप में थे—उनकी माँ बुर्के के अन्दर। इस मीटिंग में सम्मिलित होने की सरकारी मनाही थी और ठीक मीटिंग के समय स्कूल में हमलोगों की हाजिरी होनेवाली थी, अनुपस्थित छात्रों के नाम काट देने का आदेश था। पर, जादू वह जो सिर चढ़कर बोले—हमलोग सारे आदेशों और धमकियों को पैरों के तले रौंदकर सभा में पहुँचे ही और इस सभा ने जो रंग दिखलाया, उसका दृश्य जीवनव्यापी होकर रहा—इसका पता आगे चलेगा।

गांधीजी के जाने के दो-तीन सप्ताह बाद सी० आर० दास आरा आये और उनका भाषण सुनने हमलोग गये। वे अँगरेजी में बोल रहे थे और शायद जगत बाबू या विन्ध्यवासिनी बाबू (मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं आ रहा है) उसका हिन्दी-रूपान्तर करते जा रहे थे। सी० आर० दास बड़े ही ओजस्वी और तेजस्वी वक्ता थे—भावविह्वल होकर बोलते—हृदय की भाषा में। उस भाषण का लब्बो-लुबाब था, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार। सभा के अन्त में एलान किया गया कि कल विदेशी वस्त्रों की होली जलेगी—सब लोग अपने सारे विदेशी वस्त्र ला कर उस होली में स्वाहा कर दें। उत्साह और उमंग की लहरें उद्वेलित हो रही थीं—दूसरे दिन मैंने अपने सारे विदेशी वस्त्रों के गट्ठर बाँधे और लाकर उन्हें स्वाहा कर दिया। वह दृश्य आज भी आँखों के सामने घूम रहा है, जब आरा में विदेशी वस्त्रों की बहुत बड़ी होली जली थी—रात भर जलती रही थी और हमलोग गा रहे थे—

नहिं रखनी, नहिं रखनी सरकार जालिम नहिं रखनी...!!

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार मे प्राय: वे ही उपाय काम में लाये गये, जो सन् ५७ के गदर में लाये गये थे—प्रत्येक समचारपत्र, प्रत्येक नेता यही प्रचार कर रहा था कि विदेशी वस्त्रों में गाय की चरबी और सूअर की चरबी देकर चमक और मजबूती लाई जाती है—इसलिए विदेशी वस्त्रों को धारण करने को कौन कहे, उन्हें छूना तक पाप है। इस भावना को उभार कर विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में देश के नेताओं को आशातीत सफलता मिली।

सारे विदेशी वस्त्रों की कीमती पोशाकों को आग मे सौंपकर मन में विचित्र *आत्मप्रसाद और आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव हुआ, जैसे जनम-जनम का* पाप कट गया हो। देश के प्रति, भारतमाता के प्रति एक सर्वथा नई, परन्तु परम निर्मल प्रीति का उदय हुआ। लगा जैसे जीवन सार्थक हुआ। खादी का कुरता, धोती, चमरौंधा जूता और गाबी-टोपी पहनकर जब स्कूल मे आया, तब देखकर अध्यापकवर्ग और छात्रवर्ग दंग। अरे, यह भरी जवानी में क्या वैराग्य ले बैठा? *चारो ओर से अवाजकशी होने लगी। मुझे भी अजीब अटपटा लग रहा था।* लेकिन अन्दर-अन्दर बडी प्रसन्नता का बोध हो रहा था।

उन दिनो आज की-सी नफीस खादी नहीं मिलती थी। ३ गज ४४ इंच की खादी की धोती शरीर पर धारण करना घोर तपस्या ही थी। आरम्भ में तो शरीर छिलता था; घुटनों के पास खून निकल आता था। उन दिनों कोरी—बिना धोई खुरदुरी, बदशकल, भयंकर खादी आती थी। खादी का कुरता और टोपी सिलाने के लिए दर्जियों से निहोरा करना पड़ता था। वे डरते थे कि उन कपड़ों से उनकी मशीन खराब हो जायगी, सूई टूट जायगी। परन्तु, ईश्वर-कृपा से खादी का जो व्रत लिया, सो लिया और वह अब तो बड़ी शान के साथ निभ गया, जगमगा रहा है। आज तो खादी रौब गालिब करने के लिए और हजारों गुनाह ढक देने के लिए कवच का काम कर रही है—परन्तु कबतक? कबतक??

पिताजी के निधन के पश्चात् परिवार मे जो भयंकर भूचाल आया, उसका सबसे गहरा धक्का मुझे ही लगा। पिताजी की अर्जित सारी विपुल सम्पत्ति-राशि को मेरे बड़े चाचाजी ने हथिया लिया और मुझे, मेरी विधवा माँ के साथ घर से अलग कर दिया—करीब-करीब राह का फकीर ही बनाकर। हिस्से मे मिला एक टूटा-फूटा घर, जिसमे पहले गोयठा और भूसा रखा जाता था। न तो कोई भाँडा-बरतन, न खाद्य-सामग्री। मुझे स्मरण है, बिलगाव के दिन बाजार से मैं चावल, दाल, नमक, मसाला और कुछ अलमूनियम के बरतन खरीद लाया था। मैं और मेरी विधवा माँ! मेरे सिवा उसके कोई संतान नहीं, उसके सिवा संसार में मेरा कोई अपना नहीं।

का लाभ मिलता। डॉ० भगवानदास भी प्रायः दर्शन देते। पहले-पहल इसी छात्रावास में डॉ० भगवान दास और आचार्य कृपलानी के भाषण सुनने का सौभाग्य मिला। छात्रावास के अधीक्षक थे प्रो० मलकानी—बड़े ही प्रेमी जीव, आनन्दमूर्त्ति, पूरे मस्तमौला। ग्यारह-बारह लड़के-लड़कियाँ थीं इनकी। कहते, इस विश्व को यही मेरी विनम्र भेंट है—'This is my humble contribution to the wide world,' होली में इन्हें कीचड़ से, बाद रंग से खूब नहलाया जाता और वे बेहद प्रसन्न होते। इनके कारण ही आचार्य कृपलानी प्राय. आया करते और ठहरते। धीरेन भाई (श्रीधीरेन मजूमदार) खादी के थान लेकर छात्रावास में बेचने आया करते थे। सहपाठियों में वी० आर० शेनाय थे, जो आज देश के प्रमुख अर्थशास्त्री माने जाते हैं और एल० के० झा थे, जो केंद्रीय सरकार में वित्त-सचिव थे और अब प्रधान मन्त्री के सचिव हैं।

परन्तु, मेरे लिए विश्वविद्यालय का छात्र-जीवन घोर तपश्चर्या और कष्ट-वरण एवं कष्ट-सहन का था। माँ अपनी सोने की हँसली बेच चुकी थी। शेष उसके पास कुछ चाँदी के जेवर रह गये थे—बाजू, जोशन, बँगुरी, कँगना, हलका, कड़ा। धीरे-धीरे वह एक-एक कर इन्हें बेचती जाती और रुपये मुझे भेजती जाती। लेकिन, ऐसा कबतक चलता? मैंने तुरत स्वावलम्बन का पाठ सीखना चाहा और पं० रामनारायण मिश्र के संकेत से कुछ ट्यूशन मिल गये। कुछ आधार हो गया। उन दिनों आज जैसी खर्चीली और नशीली शिक्षा नहीं थी। ट्यूशन-फी पाँच रुपये, भोजन के दस-ग्यारह रुपये, सीट-रेंट तीन रुपये—कुल २०-२२ रुपये में मजे में महीना निकल जाता था। रोज भोजनोपरान्त हमलोग पैदल शार्टकट से खोजवा महल्ले को पार कर युनिवर्सिटी पहुँचते, रास्ते में कूदते-फाँदते, दुर्गाकुण्ड के आगे का नाला फाँदते—और फिर शाम को इसी प्रकार विश्वविद्यालय से लौटते। हममें से अधिकांश 'देहाती जीव' थे, इसलिए छह-सात मील का चंक्रमण कुछ भी न खलता था। आम, अमरूद, भुट्टे, ककड़ी के दिनों में लौटते-लौटते राह में ही जलपान-कार्य सम्पन्न हो जाया करता था।

मेरे लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा घोर तपश्चर्या सिद्ध हुई। विश्वविद्यालय के छह वर्ष में मैंने नहीं जाना कि गर्म कोट कैसा होता है, अँगरेजी जूते का सुख कैसा होता है, तेल, साबुन, कंघा, शीशा क्यों चाहिए और धोबी के धुले हुए कपड़े का शौक कैसा होता है। कुल दो धोतियाँ, दो कुरते, एक तौलिया, एक जोड़ी चप्पल यही सारी सम्पत्ति थी। शाम को कॉलेज से लौटते, तो कपड़े साबुन से धोकर सुखा लेते। उन दिनों आठ-दस आने में एक जोड़ा चप्पल मिल जाता था, जो साल-भर तक बा-हिफाजत चलता। मेरे नाना ने एक विशाल बाघम्बर दिया था,

फ्रेम का मोटा चश्मा लगा हुआ है, हाथ में रजिस्टर लिये कमरे से बाहर निकलकर क्लास लेने जा रहा है। फिर, मैंने जरा गौर से देखा इस जीर्ण-सी काया को। महा आकर्षणहीन व्यक्तित्व। कपड़े-लत्ते में भी कोई सलीका नही, कोई ढंग नहीं, कोई पसंद नहीं; जो मिला, जैसा मिला, पहन लिया—शरीर ढकने भर के लिए! बहुत मामूली सफ़ेद गाढे का मुहरीदार पाजामा, वैसा ही मामूली बंद गले का कोट, पैर में कैनवस का फुल शू, जिसकी हफ्तों से सफेदी नही हुई है, फीते अस्त-व्यस्त ढीले-ढाले, सिर पर पुराने ढंग की फेल्ट कैप। चाल में एक अजीब तरह की मन्दता।

यही लालाजी हैं! 'वीरपचरत्न' का यही कवि है! स्कूल मे पढ़ते समय जिस व्यक्ति को मैं इतने भक्तिभाव से देखता था, वह व्यक्ति यही है? क्या सचमुच इन्ही की लेखनी का वह प्रसाद था!

सब वीर किया करते हैं सम्मान कलम का,
वीरों का सुयश-गान है, अभिमान कलम का।

लालाजी के नाम से भारतवर्ष में एक ही साथ दो व्यक्ति प्रख्यात हुए—एक साहित्य के क्षेत्र मे, दूसरे राजनीति के क्षेत्र मे—एक लाला भगवान दीन, दूसरे लाला लाजपतराय। छोटे मुँह बड़ी बात है; परन्तु मुझे ऐसा ही लगता है कि राजनीति के क्षेत्र मे जो स्थान लाला लाजपतराय का था, साहित्य-क्षेत्र में वही स्थान लाला भगवान दीन का था। एक राष्ट्र-केसरी थे, दूसरे साहित्य-केसरी। दोनो की दहाड़ आज भी अपने-अपने क्षेत्र मे गूँज रही है।

हिन्दी के प्रति मोह और आकर्षण होने के कारण ही मैं हिन्दू-विश्वविद्यालय में आया और यहाँ अपने ऐच्छिक विषयों में हिंदी लेने पर मुझे अपने अध्यापकों के अधिकाधिक निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शुक्लजी की गंभीर *मुद्रा से भय मालूम पड़ता था; इस कारण कई वर्षों तक उनसे व्यक्तिगत परिचय* करने का साहस नही हुआ। स्वभाव का मैं था भी झेंपू, और इस कारण भी बहुत परिचय से जी भागता-सा था। क्या पूछूँगा, क्या कहूँगा, वे कुछ पूछ बैठें, तो क्या उत्तर दूँगा आदि—ऐसे बहाने बनाकर मैं अपने मन को चुपचाप समझा लेता था। एफ० ए० के लड़के प्रायः fools (मूर्ख) नाम से संबोधित किये जाते हैं और हर बात मे उनकी अभद्रता की ओर उँगली उठा करती है। जमात बांधकर, हल्ला करते हुए, जूते बजाते हुए एक रूम से दूसरे रूम मे जाना, आगे की सीटों के लिए बुरी तरह दौड़ना और फिर स्कूली आदतों के मुताबिक प्रोफेसरों को बीच-बीच में छेड़ना। बेचारे प्रोफेसर एक बार नाक-भौं सिकोड़ते—'कैसे गधों से पाला पड़ा है।' फिर स्वयं सोचते—आखिर ये हैं भी तो First year fools; इसलिए जरा-सी मुसकान के साथ अपनी कही हुई बात को दुहराते।

आजकल के प्रोफेसरों की तरह अपनी 'सर्वज्ञता' अथवा 'बहुज्ञता' का अभिमान नही था। वे इस बहुज्ञता को बहुत अच्छी बात भी नही मानते थे। वे लेक्चर देने की अपेक्षा ग्रन्थ का अध्ययन तथा प्रासंगिक विषयो की चर्चा बहुत पसद करते थे। ग्रन्थों के सम्बन्ध मे आजकल कॉलेजों मे एक भ्रम काम कर रहा है। अधिकाश प्रोफेसरों ने लेक्चर दे देना ही अपना परम कर्त्तव्य समझ रखा है। इस विषय की किताबों से उन्हें गरज नही। पन्त की काव्य-सुषमा पर व्याख्यान सुन लेना और बात है, और पन्त के 'गुंजन', 'पल्लव', 'वीणा' आदि का मर्म जानना और। प्रायः प्रोफेसर व्याख्यानों के द्वारा ही, जो देने और सुनने दोनों मे ही सुलभ हैं, अपने को सन्तुष्ट कर लेते हैं तथा विद्यार्थी भी व्याख्यान को ही कॉलेज की शिक्षा का परम प्रसाद मानते है। परिणाम यह होता है कि प्रायः अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों मे ही ग्रन्थों की ओर से गहरा अज्ञान बना रहता है। विश्वविद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थियों मे आप छायावाद, रहस्यवाद, आदि वादो पर चाहे जितना सुन लीजिए, परन्तु उनसे पूछिए कि इन विषयों के मौलिक ग्रन्थ आपने कौन-कौन से पढे हैं, तो उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। प्रायः विद्यार्थी आजकल दूसरों की लिखी हुई तद्विषयक आलोचनाओं से ही काम चला लेते हैं। हर विषय की यही बात है। ग्रन्थ आले मे ही पड़े रह जाते हैं—यहाँ-वहाँ की थर्ड क्लास आलोचनाएँ पढ ली और काम चला लिया। इस 'कामचलाऊ' शिक्षा का छकड़ा कबतक चलता रहेगा। अध्यापक और विद्यार्थी कबतक अपने को धोखे मे रखेंगे ?

लालाजी की पढाने की शैली अपनी खास थी, एक-एक शब्द पर पूरा-पूरा विचार, उसकी उत्पत्ति और गति आदि का पूरा-पूरा ऊहापोह। फारसी और अरबी के शब्दो की जहाँ व्युत्पत्ति आती अथवा ग्रन्थ मे आये हुए किसी पद का फारसी की कविता से मुकाबिला करना होता, वहाँ लालाजी का हृदय नाच उठता। अबतक लालाजी से पढे हुए मेरे अनेक काव्य-ग्रंथों मे फारसी-अरबी के कितने ही शेर लिखे हुए हैं, और उन्हें आज पढ़ता हूँ, तो लालाजी की स्मृति सजीव हो उठती है।

हर बात मे लालाजी की अपनी ही कार्यशैली थी। वे बँधी-बँधाई परिपाटी पर चलने के हामी नही थे। हमारे क्लास मे रजिस्टरों मे विद्यार्थियो के नाम अँगरेजी में छपे होने के कारण अँगरेजी वर्णमाला के अनुसार जमाये हुए थे। लालाजी को यह कतई पसन्द न था। वे हर महीने उन अँगरेजी मे छपे हुए नामों को काटकर हिन्दी मे सुपुष्ट सुन्दर अक्षरो मे अकारादि क्रम से जमाते। ऐसा करने मे उनका बहुत समय लगता; परन्तु किये बिना उनसे रहा नहीं जाता। इस कारण ऑफिस के क्लर्कों को 'परसेन्टेज' जोडने मे काफी दिक्कत और परेशानी होती। परन्तु, वे करते क्या ? लालाजी के अक्षर बहुत ही पुष्ट, सुन्दर और सुघर थे। वह बड़ी

सफाई के साथ जमाकर लिखते। कई बार हम लोगों ने आग्रह किया कि दीजिए हमलोग लिख दें; परन्तु वे हमलोगों के अक्षरों से सन्तुष्ट नहीं होते। उनको इस काम में बहुत सुख मिलता और इसे वे बहुत उत्साह एवं उल्लास के साथ करते।

लालाजी जीवन तथा जगत् में रस लेनेवाले एक बहुत ही जिन्दादिल तरुण वृद्ध थे। यह मैंने तब जाना, जब लालाजी हमें बिहारी के दोहे पढ़ाने लगे। बिहारी के दोहों में ही लालाजी खुले और इतने खुले कि कुछ पूछिए नहीं। शृंगार की तो वह मूर्ति ही थे। उनमें भी विप्रलंभ की अपेक्षा संयोग-शृंगार की बहुत सूक्ष्म बातों की ओर, जहाँ किसी सहृदय व्यक्ति की ही पैठ हो सकती है, लालाजी बड़े ढंग से समूचे क्लास का ध्यान खींच ले जाते। अलंकार तथा नायिका-भेद लालाजी के सर्वथा अपने विषय थे और हिन्दी में इस विषय का उनकी जोड़ का और भी कोई मर्मज्ञ हुआ, कहना कठिन है। 'बिहारी-सतसई' पढ़ाते समय लालाजी इतना रस बरसाते कि क्लास का क्लास उस आनन्द-धारा में डूब जाता। वे रस मग्न कर देते। कभी-कभी विनोद और कुतूहल में कह उठते—"भाई, विज्ञान के सभी विषयों में Practical Experiments के लिए Laboratories बनी हुई हैं; परन्तु आर्ट्स सेक्शन में नायिका-भेद के ज्ञान के लिए कोई भी प्रबन्ध नहीं है। किताबी ज्ञान से नायिका-भेद कोई खाक सीख सकता है! नायिका-भेद के व्यावहारिक ज्ञान के लिए तो बहुत खाक छाननी पड़ती है।"

लालाजी के कुछ खास Favourites authors थे। केशव और बिहारी पर लालाजी का अपूर्व अधिकार था। इस क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं के साथ उनका जो साहित्यिक दंगल हुआ, वह हिन्दी-साहित्य में चिरस्मरणीय घटना है। 'अनस्थिरता' को लेकर उन्होंने स्वर्गीय श्रीआचार्यद्विवेदीजी तक पर रहम नहीं किया। वे किसी की भी गलती को मुआफ नहीं कर सकते थे। गलती करनेवाले चाहे आचार्य द्विवेदीजी हों या बाबू श्यामसुन्दरदास या मिश्रबन्धु। वे व्यक्तित्व के आतंक में आनेवाले जीव नहीं थे। लालाजी जबतक रहे, बड़ी शानोशौकत से रहे। योग्यता और विद्वत्ता का वे हृदय से आदर करते थे; परन्तु किसी के झूठे रोब में आना उन्होंने सीखा ही नहीं था। शुक्लजी को वे हिन्दी-साहित्य का मुकुटमणि मानते थे और उनकी विद्वत्ता के सामने श्रद्धा और आदर से सिर झुकाते थे।

लालाजी का एक और भी रूप था, और शायद वही उनका सही और सच्चा रूप था। प्रातःकाल में उन्हें बगल में धोती और कुशासन दाबे, नंगे सिर, नंगे पैर, हाथ में जलपात्र लिये स्नानार्थ दशाश्वमेध घाट जाते देखा करता था। घाट से लौटते हुए लालाजी के ललाट पर केसर-मिश्रित चन्दन तथा कुंकुम की बिन्दी खूब ही शोभा देती थी। क्लास में भी प्रायः उनके चन्दन-चर्चित मुखमंडल के

दर्शन होते। कितना भव्य था वेश! क्लास में प्रवेश करते ही वे एक बार प्रेमपूर्वक सबका मौन नमस्कार स्वीकार करते और 'जय शंकर' कहते। लालाजी औढरदानी भगवान् विश्वनाथ के अनन्य उपासक थे। यही उनके जीवन का वास्तविक और आन्तरिक रूप था। कितना प्रिय! कितना मधुर!

लालाजी ने गरीबी में ही अपना जीवन बिता दिया। विश्वविद्यालय में भी उन्हें बरायनाम वेतन मिलता था। उन्हें इस बात का बड़ा क्षोभ था कि हिन्दी के इतने बड़े हिमायती पूज्य मालवीयजी महाराज की छत्रछाया में भी हिन्दी के अध्यापकों की यह दुर्दशा है। वे इसे हिन्दी के प्रति अन्याय तथा अपमान समझते थे और कभी-कभी असह्य वेदना के कारण क्लास में भी वे अपने इस भाव को छिपा नहीं सकते थे। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था, जैसे ज्वालामुखी फट पड़ा है और लावा निकल रहा है।

छायावाद के प्रति लालाजी के भाव उदार नहीं थे। वे इसे 'छोकरावाद' कहा करते थे और छायावादी कवियों को 'तुक्कड़' कहकर अपने जी की जलन मिटाने की चेष्टा करते थे। उन दिनों कलकत्ता के 'मतवाला' में लालाजी के किसी ग्रन्थ के विरोध में भूदेव शर्मा ने काफी लम्बी लेखमाला लिखी थी। परन्तु, लालाजी पर उन लेखों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने विश्वास में अडिग रहे। अन्त समय तक लालाजी छायावाद के विरोधी ही रहे।

लालाजी का कविता सुनाने का ढंग भी मुंशियाना था। उर्दू की बहर में तो आप लिखते ही थे, भाषा भी बड़ी चुहल-भरी, फड़कती हुई। बीच-बीच में 'मुकर्रर', 'इरशाद', 'वाह-वाह', 'बलिहारी है' की ध्वनियों से इनका हौसला खूब बढ़ता। लालाजी थे बड़े ही रंगीन तबीयत के और इसीलिए प्रायः कवि-सम्मेलनों में 'रमा की मोटरकार' सुनाने का उन्हें बड़ा उत्साह रहता था। उक्त कविता में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं, जिन्हें सुनने-समझने तथा रस लेने के लिए बहुत सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता नहीं। लालाजी की कविताओं का संग्रह 'नदी में दीन' छपा है। एक दिन क्लास में लालाजी पर खूब विनोद हुआ। लालाजी का पीरियड था, यह देख हम लोगों ने Mock show शुरू किया। कोई कह रहा है 'नदी में दीन' के माने हैं—नदी में दीन कवि बहे जा रहे हैं। कोई कह रहा है—दीन कवि नदी में नहा रहे हैं। कोई कह रहा है—नदी में स्नान करती हुई किसी नायिका को देखकर बिहारी की तरह दीन कवि अपनी आँखों को, हृदय को जुड़ा रहे हैं। यह शास्त्रार्थ चल ही रहा था कि लालाजी ने क्लास में 'जय शंकर' कहते हुए प्रवेश किया और शास्त्रार्थ का कारण पूछा। जब उन्हें मालूम हुआ कि 'नदी में दीन' पर ही यह सारा तूमार बँध रहा है, तो

सहृत ही सकुचाये। पीछे उन्होंने कहा—टाइप की भूल है, चाहिए था 'नदीम-उद्-दीन'।

गरमी की छुट्टियाँ हो रही थीं। हम सभी घर जाने को व्यग्र थे। अन्तिम दिन अस्त-व्यस्तता की दशा में ही लालाजी के क्लास में हम लोग मिले। लालाजी हममें से प्रत्येक का जिला और प्रान्त पूछ रहे थे, और पूछ रहे थे कि तुम्हारे यहाँ क्या खास चीज होती है। कोई कह रहा था पत्थर की मूरतें, कोई कह रहा था केवड़े का इत्र, कोई कह रहा था काँच के बरतन, कोई कह रहा था चीनी मिट्टी की सुराहियाँ। कोई अपने यहाँ की शीतलपाटियों की तारीफ कर रहा था, तो कोई अपने यहाँ की जंगली छड़ियों की। लालाजी कह रहे थे कि जिसके यहाँ की जो खास चीज हो, उसका एक-एक नमूना जरूर साथ लेते आना। मेरे घर के एक कमरे में उनकी प्रदर्शनी होगी और यही मानूँगा, तुम लोगों की गुरु-दक्षिणा।

परन्तु, गुरु-दक्षिणा की बारी नहीं आई। छुट्टियाँ कुछ ही दिन बीत पाई थीं कि अखबारों ने लालाजी के निधन का दुःखद समाचार छापा। इसी को कहते हैं हरि-इच्छा!

× × ×

कभी-कभी अनायास जीवन-यात्रा में ऐसे कार्य हो जाते हैं, जिनकी स्मृति जीवन को सुगन्ध से महँ-महँ किये रहती है। एक ऐसी ही घटना का स्मरण आता है। मैं सेकन्ड ईयर में पहुँच गया था। गरमी की छुट्टियाँ थीं। गाँव आया हुआ था और किसी कार्य-विशेष से आरा आया था। जगजीवन बाबू उसी साल आरा के टाउन स्कूल से द्वितीय श्रेणी में मैट्रिक पास कर अपने सन्दिग्ध भविष्य से आक्रान्त सिन्न मिले। कुशल-मंगल के बाद 'अब क्या किया जाय?' यही उनका प्रश्न बड़े विकट रूप में उपस्थित हुआ। मैं थोड़ा चकराया। परन्तु, बाद में तुरन्त याद आया कि बिहारप्रान्तीय हिन्दू-महासभा के वार्षिकोत्सव-समारोह का सभापतित्व करने पूज्य मालवीयजी महाराज छपरा आनेवाले हैं और वहाँ से लौटती आरा में भी एक सभा का आयोजन है, अतएव जगजीवन बाबू के साथ तै यही रहा कि पूज्य मालवीयजी जब आरा पधारें, तब उनसे मिलकर सारी बातें कही जायँ और जगजीवन बाबू के भविष्य के सम्बन्ध में उनसे ही निर्णय लिया जाय।

लौटती बार पूज्य मालवीयजी आरा आये तो सही, परन्तु आरा में रुकने का प्रोग्राम नहीं था। वे सीधे पटने से कार में आरा आये—साथ में थे मौलाना मजरुलहक़ और सर अली इमाम। विराट सभा गोमधिणी के मैदान में हुई—सभा में जगजीवन बाबू को लेकर मैं भी पहुँचा था। सभा समाप्त होने पर पूज्य मालवीयजी जब गाड़ी में बैठ गये, तब हम दोनों उनके समीप पहुँचे—मैंने थोड़े में जगजीवन बाबू का परिचय देते हुए उनके भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त की।

और विदेशों में भारतीय नृत्यकला का जो सम्मान हुआ है, उसका विशेष कारण, शायद एकमात्र कारण, रुक्मिणी के नृत्य-प्रदर्शनों को ही मानना होगा।

थियोसॉफिकल सोसायटी में नृत्य, संगीत, वाद्य आदि के कारण प्रचुर मधुमय वातावरण बना रहता था। वहाँ की ललित लीलाएँ, स्वच्छता, सौन्दर्यप्रियता, कलानुराग आदि हम लोगों के विशेष आकर्षण का केन्द्र था। परन्तु, प्राय: लगता था कि यह रईस युवक-युवतियों की दिलबस्तगी की लीलाभूमि है, मुख्य साधन है। जैसे आज किसी भी 'सर्वोदयी' व्यक्ति को दूर से पहचान लिया जा सकता है, वैसे ही उन दिनों थियोसॉफिस्टों को पहचानना आसान था। कृष्णमूर्तिकट बाल आगे से बीच में काढ़े हुए और कान के नीचे तक खत—कन्धों पर बटन लगे लम्बे कुरते, बगाबग धोतियाँ, जो प्राय: तम्बूलपेट होती हुई भी जमीन में सोहरती चलतीं और पैरों में नफीस मखमली चप्पल। चेहरे पर पाउडर, क्रीम, स्नो आदि का बाहुल्य, रूमाल इत्र में बसे हुए, जिसे जरा-सा मुँह पोंछने के लिए निकाला, तो सारा वातावरण सुगन्धि से भर जाय। पुष्पों के प्रति विशेष अनुराग, रूप और रंग के प्रति विशेष आस्था। कला, सौन्दर्य, लालित्य, माधुर्य, कोमलता, शुचिता, सुरुचिता का जैसे हाट लग गया हो। यहाँतक कि उस वातावरण में 'ज्यों-ज्यों निहारिए न्यरे ह्वै ह्वै त्यों-त्यों निखरै सावरें की लुनाई'!!

हमारे छात्रावास के सामने विशाल मैदान था, जिसमें टहलने के लिए प्रातःकाल 'बाबू साहब' (बाबू श्यामसुन्दरदास) नित्य नियमित रूप में आया करते थे। उनके साथ लग जाते थे पं० रामनारायण मिश्र। ये दोनों ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आदिसंस्थापकों में थे। बाबू साहब बहुत ही दबंग रोबिवल ग्रानियल पुरुष थे। जाड़े के दिनों में गरम जोधपुरी ब्रिचेज, चेस्टर, गरम टोपी आदि में सजकर आते। कोट बारहों महीने पहनते थे। बिना कोट पहने वे बाहर निकलते ही नहीं थे। बाहर निकलने में टाई भी अवश्य होती। लम्बे चौड़े तगड़े व्यक्तित्व में यह ठाटबाट बेहद फबता! पं० रामनारायण मिश्र पर आर्य-समाजी सुधारवादी सादगी सदा सवार रहती। जाड़ों में भी वे कुरता-धोती पहने टहलने निकल जाया करते और छात्रों को लेकर नि:शंक खूब दौड़ लगाते। गरमियों में तैरने में उन्हें विशेष मजा मिलता और छात्रों की एक टोली लेकर गंगा में उतर जाते और मीलों तैरते। पं० रामनारायण मिश्र चिरयुवक थे, चिरकिशोर। वैसा मस्त आदमी, जो बुढ़ापे को बराबर ललकारता रहता है और जवानी को अपने मे सदा के लिए गिरफ्तार कर लेता है, कितने हैं? अलबत्ता, ऐसी अमर जवानी नेहरू में देखी गई।

कमच्छा होस्टल के समीप लगभग डेढ़ मील पर गंगाजी का हरिश्चन्द्र घाट है—

उन दिनों अभी 'हरिजन' शब्द प्रचलित नहीं हुआ था, मूल जातीय अभिधान से ही अभिहित किया जाता था।

मालवीयजी गाड़ी में दाहिनी छोर पर बैठे थे। हम लोग उसी तरफ पहुँचे। मैंने थोड़े में सारी बातें निवेदित कर दीं। मालवीयजी ने उत्साहपूर्ण वाणी में कहा—'हाँ, हाँ, अवश्य इन्हें अपने साथ विश्वविद्यालय में लेते आओ। जहाँ मेरा गोविन्द बैठता-पढ़ता है, वहीं ये भी पढ़ेंगे। समझे?' इतना ही कहकर मालवीयजी चले गये। 'गोविन्द' से उनका अभिप्राय गोविन्द मालवीय से था। मैं जगजीवन बाबू को लेकर विश्वविद्यालय पहुँचा। मालवीयजी ने उनके लिए सारी व्यवस्था कर दी। प्रिंसिपल को लिखकर फीस माफ करा दी, लाइब्रेरियन को लिखकर किताबों की भेंट दिला दी। वार्डेन को लिखकर फ्री सीट दिला दी और अपने पास से २५ रु० प्रतिमास भोजन खर्च के लिए देने लगे। उन दिनों १०-१२ रुपये महीने में अच्छा स्वास्थ्यकर सुरुचिकर भोजन विश्वविद्यालय के मेस में मिल जाता था। इस प्रकार, जगजीवन बाबू के सारे योग-क्षेम का भार मालवीयजी महाराज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और ठीक जैसे अपने गोविन्द को प्यार करते थे, वैसे ही जगजीवन बाबू को भी।

परन्तु, मैं क्षण-भर के लिए विषयान्तर हो गया। काशी का कमच्छा महल्ला थियोसॉफीमय था। ट्रेनिंग कॉलिज के प्रिंसिपल पं० लज्जाशंकर झा इधर थे, डॉ० भगवान दास उस छोर पर। बीच में श्री जे० कृष्णमूर्त्ति का आवास और थियोसॉफिकल सोसायटी का केन्द्र। हम लोग सन्ध्या समय प्रायः सोसायटी के भाषण में उपस्थित रहते। कृष्णमूर्त्ति को उन दिनों एनिबेसेंट 'मसीहा' बनाने पर तुली हुई थीं और कुछ विचित्र प्रकार के मुकदमे कोर्ट में चल रहे थे, जिनकी चर्चा करके रस को विरस नहीं करना चाहता। परन्तु, यह मानना पड़ेगा कि वक्ता के रूप में कृष्णमूर्त्ति का मुकाबिला करनेवाले विरले ही होंगे। ऐसे धाराप्रवाह प्राञ्जल, उच्च कोटि के बौद्धिक भाषण मैंने बहुत कम सुने हैं। अलबत्ता राधाकृष्णन् बोलते हैं, परन्तु उसमें वह तरलता और ऊष्मा नहीं होती, वह ज्योति और रस नहीं होता, जो कृष्णमूर्त्ति के भाषण में होता है। कृष्णमूर्त्ति 'मसीहा' न हुए, न हुए, परन्तु विश्वसंघटन की स्वयंप्राप्त अध्यक्षता का मोह त्याग कर उन्होंने जिस महान त्याग का परिचय दिया, उसे इतिहास स्वर्णाक्षरों में संचित कर अपने को धन्य मानेगा। उन्हीं दिनों की घटना है, जब रुक्मिणीजी 'सोसायटी' में नृत्य-गीत सीख रही थीं और अरुण्डल ने उनपर डोरा डालना शुरू किया था। काशी में इसकी खासी चर्चा थी, परन्तु धन्य हुए अरुण्डल रुक्मिणी जैसी कला की पुतली को पत्नी-रूप में पाकर। आज भी रुक्मिणीजी भारतीय नृत्यकला में संसार में अद्वितीय हैं

और विदेशों में भारतीय नृत्यकला का जो सम्मान हुआ है, उसका विशेष कारण, शायद एकमात्र कारण, रुक्मिणी के नृत्य-प्रदर्शनों को ही मानना होगा।

थियोसॉफिकल सोसायटी में नृत्य, संगीत, वाद्य आदि के कारण प्रचुर मधुमय वातावरण बना रहता था। वहाँ की ललित लीलाएँ, स्वच्छता, सौन्दर्यप्रियता, कलानुराग आदि हम लोगों के विशेष आकर्षण का केन्द्र था। परन्तु, प्रायः लगता था कि यह रईस युवक-युवतियों की दिलबस्तगी की लीलाभूमि है, मुख्य साधन है। जैसे आज किसी भी 'सर्वोदयी' व्यक्ति को दूर से पहचान लिया जा सकता है, वैसे ही उन दिनों थियोसॉफिस्टों को पहचानना आसान था। कृष्णमूर्तिकट बाल आगे से बीच में काढ़े हुए और कान के नीचे तक सत—कन्धों पर बटन लगे लम्बे कुरते, धपाधप धोतियाँ, जो प्रायः तम्बूलपेट होती हुई भी जमीन में सोहरती चलतीं और पैरों में नफीस मखमली चप्पल। चेहरे पर पाउडर, क्रीम, स्नो आदि का बाहुल्य, रूमाल इत्र में बसे हुए, जिसे जरा-सा मुँह पोछने के लिए निकाला, तो सारा वातावरण सुगन्धि से भर जाय। पुष्पों के प्रति विशेष अनुराग, रूप और रंग के प्रति विशेष आस्था। कला, सौन्दर्य, लालित्य, माधुर्य, कोमलता, शुचिता, सुरुचिता का जैसे हाट लग गया हो। यहाँतक कि उस वातावरण में 'ज्यों-ज्यों निहारिए न्यरे ह्वै ह्वै त्यों-त्यों निखरै सावरै की लुनाई'!!

हमारे छात्रावास के सामने विशाल मैदान था, जिसमें टहलने के लिए प्रातःकाल 'बाबू साहब' (बाबू श्यामसुन्दरदास) नित्य नियमित रूप से आया करते थे। उनके साथ लग जाते थे पं० रामनारायण मिश्र। ये दोनों ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के आदिसंस्थापकों में थे। बाबू साहब बहुत ही दबंग रोबियल शानियल पुरुष थे। जाड़े के दिनों में गरम जोधपुरी ब्रिचेज, चेस्टर, गरम टोपी आदि से सजकर आते। कोट बारहों महीने पहनते थे। बिना कोट पहने वे बाहर निकलते ही नहीं थे। बाहर निकलने में टाई भी अवश्य होती। लम्बे चौड़े तगड़े व्यक्तित्व में यह ठाटबाट बेहद फबता! पं० रामनारायण मिश्र पर आर्य-समाजी सुधारवादी सादगी सदा सवार रहती। जाड़ों में भी वे कुरता-धोती पहने टहलने निकल आया करते और छात्रों को लेकर निःशंक खूब दौड़ लगाते। गरमियों में तैरने में उन्हें विशेष मजा मिलता और छात्रों की एक टोली लेकर गंगा में उतर जाते और मीलों तैरते। पं० रामनारायण मिश्र चिरयुवक थे, चिरकिशोर। वैसा मस्त आदमी, जो बुढ़ापे को बराबर ललकारता रहता है और जवानी को अपने में सदा के लिए गिरफ्तार कर लेता है, कितने हैं? अलबत्ता, ऐसी अमर जवानी नेहरू में देखी गई।

कमच्छा होस्टल के समीप लगभग डेढ मील पर गंगाजी का हरिश्चन्द्र घाट है—

इतिहासप्रसिद्ध, पुराणप्रसिद्ध, हरिश्चन्द्र घाट, जहाँ अहोरात्र महाकाल का चक्र चलता रहता है। उसके पास ही है ललिताघाट—यथानाम तथारूप। इसी घाट पर नित्य नियमपूर्वक गंगा-स्नान का जो चस्का लगा, वह काशी-प्रवास में अन्त तक चला—क्या जाड़ा, क्या गरमी, क्या बरसात—सवेरे-सवेरे ४ बजे के लगभग गंगा मैया की गोद में माधवजी क्रीडाविल्लोल कर रहे हैं।

प्रातःस्मरणीय, चिरवन्दनीय, पवित्रकीर्त्ति पूज्यचरण महामना मालवीयजी महाराज के त्याग और तप (आज इन शब्दों की कैसी दुर्दशा है!) से आकृष्ट होकर देश के अनेक मूर्द्धन्य विद्वानों ने स्वल्प वेतन लेकर काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय को अपनी अनमोल सेवाएँ अर्पित कर दीं—जिनमें शिरोमणि थे प्रो० श्यामाचरण डे। डे साहब एक साथ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे, चीफ वार्डन थे और गणित-विभाग के अध्यक्ष भी थे। वे वेतन लेते, तो कम-से-कम ढाई-तीन हजार रुपये मासिक होता, परन्तु वे कुल एक रुपया मासिक लेकर विश्वविद्यालय के सेवकों की बही में प्रतिमास हस्ताक्षर किया करते थे। उनके लिए रहने का जो छोटा-सा बँगला था और घोड़ागाड़ी थी, उसके लिए उन्होंने अपने गाँव की जमींदारी विश्वविद्यालय को लिख दी थी और अपनी पुस्तक से जो रॉयल्टी के पैसे मिलते थे, उसी से वे अपना निर्वाह करते थे। डे साहब थे बालब्रह्मचारी और पूर्णतः साधु-स्वभाव। प्रातः ८ बजे अपने कार्यालय पहुँच जाते और रात को देर तक जुटे रहते। बाद में उन्हें 'डे बाबा' कहा जाने लगा। लम्बी दाढ़ी, उन्नत ललाट, सतेज आँखें—स्नेहमय मृदुल वात्सल्य व्यवहार। डे बाबा सारे विश्वविद्यालय पर अपने त्याग एवं तपोमय जीवन के कारण छा गये थे। का० वि० वि० के उस समय के कुछ प्रोफेसरों का पुण्यस्मरण। मालवीयजी महाराज के आग्रह पर गान्धी जी ने प्रिंसिपल के पद पर भेजा था—आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव को, जो पुराने आइ० ई० एस्० थे। ध्रुवजी ज्ञान के विश्वकोश ही थे। अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, संस्कृत, पाली, प्राकृत, गुजराती, मराठी के प्रकाण्ड पण्डित, साथ ही राजनीति-विज्ञान, दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, वैदिक साहित्य के पारंगत मनीषी। विद्या की शोभा थे, श्री थे। वेशभूषा भी क्या विशिष्ट थी! लाखों में एक। गुजराती लाल पाग, जिसपर सामने से एक सुनहरी पट्टी चारों ओर घूम गई थी—ठीक जैसी पगड़ी न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द राणाडे और गोखले पहनते थे; लम्बा सफेद खादी का कोट—बारहों महीने सफेद खादी का सूती कोट ही पहनते, गले में लिपटा हुआ रेशमी दुपट्टा, गुजराती शैली की महीन धपधपाती धोती और पैरों में चप्पल या फुलस्लीपर। उनके मस्तक पर की रोली की बिन्दी कभी मद्धिम नहीं हुई। लगता, साक्षात् महादेव गोविन्द

आज इनमे से एक भी नहीं हैं, परन्तु अपनी कृतियों में वे चिरअमर हैं; क्योंकि न केवल इन्होंने साहित्य के इतिहास का निर्माण किया, वरन् इनके व्यक्तित्व और सेवाओं को लेकर ही साहित्य का इतिहास निर्मित हुआ है। इन 'गुरुओं' की चर्चा विस्तार मे आगे आयगी, जब मैं बी० ए० पार कर एम्० ए० मे उनके निकट सम्पर्क मे आ जाऊँगा। अभी तो मैं आइ० ए० के द्वितीय वर्ष मे हूँ, इसलिए दूर-दूर से ही इन्हें श्रद्धा के साथ, भक्ति के साथ प्रणति निवेदित करता रहा हूँ—चरणस्पर्श का सौभाग्य तो अभी प्राप्त होने को बाकी ही है। रे मन! धीरज धर, तुझे वह सौभाग्य भी अवश्य मिलनेवाला है।

परिवार की अतिशय विपन्नावस्था, माँ का उत्साह और पढने-लिखने के अपने ऊँचे, बहुत ऊँचे हौसले मे एक गुर हाथ लगा और वह यह कि मुझे पढ़ने मे अच्छा, बहुत अच्छा, बहुत अच्छा होना ही चाहिए। तभी भविष्य का मंगलमय द्वार खुलेगा। जी-जान से पढाई में जुट गया—दिन को दिन, रात को रात न जाना। परिणाम यह हुआ कि कई पुस्तकें इतनी तैयार कि जहाँ से जो भी पूछ लीजिए, सब उपस्थित। संस्कृत मे 'कुमारसम्भव' का चतुर्थ सर्ग, पूरी-की-पूरी, 'विक्रमोर्वशीय' 'रघुवंश' का चतुर्दश सर्ग और पूरा 'उत्तरमेघ' कण्ठस्थ। शेली, कीट्स, बायरन ब्राउनिंग, कालरिज, वर्ड्सवर्थ, मिल्टन की अनेक सारी कविताएँ शब्दश: उपस्थित शेक्सपियर के 'ऐज यू लाइक इट' जहाँ से जी चाहे, पूछ लीजिए। शेक्सपियर के और कई सारे सानेट्स कण्ठस्थ। गरज कि पढ़ने में मेरे मनप्राण रम गये थे— एक पवित्र नशा-सा छा गया था विद्या के विलास का, सरस्वती की सेवा का लालाजी 'कवितावली' पढाते थे, हरिऔधजी 'कबीर-वचनावली' और शुक्लजी 'निबन्धमाला'—कवितावली सारी की सारी घोख गया था। सो तो कोई बात नहीं उसपर समानान्तर उद्धरण, जो प्रायः लालाजी उर्दू-फारसी के देते थे, मुझे याद हो गये थे। प्राय सारे पाठ्यग्रन्थ मेरी जबान पर थे, चलते-फिरते उन्हीं का अभ्यास चलता रहता था। आज की तरह उन दिनों कोर्स में अनगिनत पुस्तकें न थीं— कम पुस्तकें थी, खूब जमकर पढाई और पढ़ी जाती थीं—शब्द-शब्द का रस लेते हुए। परिणाम भी वही हुआ, जो होना चाहिए था—आइ० ए० मे प्रथम श्रेणी में ऊँचे 'पोजीशन' के साथ उत्तीर्ण हुआ, हिन्दी मे 'डिस्टिंक्शन' मिला। अब तो मेरे भाग्य ही खुल गये! परन्तु, खुले भाग्य की चर्चा फिर करूँगा, अभी एक बात बीच मे ही याद आ गई उसी की ओर मन दौड़ लगा रहा है—बालक ही तो ठहरा। अति चंचल!

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय मे चार-पाँच बिहारी छात्रों ने अपनी प्रतिभा प्रज्ञा, आचार और विचार से सुयश कमाया। उनमें सबसे पहले हैं मनोरंजन

वातावरण को आलोकित कर हम लोगों का उत्साह और हौसला बढाते। उन दिनों वेनीपुरीजी पर 'यूथ लीग' का भूत सवार था।

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में उस समय के और दो विहारी छात्रों की चर्चा करने का अवसर आ गया है—वे हैं पोखरपुर, परमा, (सारन) के ठाकुर मंगलप्रसाद सिंह और कतरीसराय (गया) के श्रीप्रबोधचन्द्र। ये दोनों ही अब 'हैं' नहीं, 'थे'। छात्रावस्था मे ही मंगल वावू साहित्यिकों के बहुत ही बडे निष्ठावान् श्रद्धालु थे, कद्रदाँ थे और खोज-खोजकर प्रतिभाओ का पता लगाते रहते थे। छात्रावस्था मे ही उन्होंने 'विहार के नवयुवकहृदय' पुस्तक प्रकाशित की थी, जो उस समय के प्रमुख युवक कवियों की कविताओ एवं उनके परिचय से समलंकृत थी। अपनी कोटि की वह पहली पुस्तक थी, जिसका आज ऐतिहासिक महत्त्व हो गया है—सम्भवतः वह पुस्तक वाणी मन्दिर, छपरा से सन् १९२६-२७ ई० मे छपी थी। मंगल वावू ने वाद मे छपरा मे विधिवत् एक प्रकाशन-संस्था खोली, जिसमें उन्हें अपनी परम विदुषी पत्नी विद्यावती देवी से बहुत बड़ी सहायता और सहयोग मिलता रहा।

सम्भवतः, कुशल विद्यावतीजी के कारण ही 'वाणी-मन्दिर' चल निकला और कुछ ही वर्षो मे उसकी धाक जम गई। 'वाणी-मन्दिर' से ही वाद मे द्विजजी की 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', कविताओं का संग्रह 'अनुभूति', कहानियों का संग्रह 'किसलय' और रेखाचित्रों का संग्रह 'चित्ररेखा' प्रकाशित हुई थी। माधवजी की 'मीराँ की प्रेम-साधना' के प्रथम और द्वितीय संस्करण भी 'वाणी-मन्दिर' से ही प्रकाशित हुए। उनकी दूसरी पुस्तक—'मेरे जनम-मरण के साथी' भी वही से छपी। गरज कि विहार के अनेक लेखकों की कृतियाँ 'वाणी-मन्दिर' ने प्रकाशित की और प्रकाशन के स्तर के साथ-साथ व्यवहार का स्तर भी बहुत ही शोभन रहा। मंगल वावू के अकाल निधन से मन्दिर को बडा ही धक्का लगा, परन्तु विद्यावतीजी ने पति की कीर्त्ति को अक्षय ही नही रखा, वहुत आगे बढाया भी, संवर्द्धित भी किया है। प्रबोधचन्द्र जी कतरीसराय (गया) के थे—गोरा-गोरा भुभुक्का रंग, खादी का लम्बा कुरता, धोती-चप्पल, आँखों पर सुनहले फ्रेम का चश्मा, सदा प्रसन्न मुद्रा, उलझे-उलझे-से वाल—देखते ही लगता कि छायावादी कवि हैं। उन्हें महादेवी पर घोर श्रद्धा थी। वह श्रद्धा एक प्रकार से सीमा का अतिक्रमण कर गई थी; क्योंकि प्रबोधचन्द्रजी के कमरे मे एकमात्र महादेवीजी का एक चित्रपट था, जिसपर वे पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य निवेदित करते थे और अपनी कविताएँ उसी चित्र को सामने रखकर गा-गाकर सुनाते थे और कभी-कभी आँसुओं से नहलाते भी थे। एक बार महादेवीजी मेरे अनुरोध पर जब काशी-विश्वविद्यालय

क बिहारी छात्र-संघ के वार्षिकोत्सव पर पधारीं और अपनी कविताएँ सुनाईं तब लगा, प्रबोधचन्द्र को त्रैलोक्य का साम्राज्य मिल गया। महादेवीजी के प्रति प्रबोधचन्द्र की श्रद्धा ही नहीं, भक्ति भी थी, प्रीतिमयी भक्ति। इसे हम लोग उनका पागलपन कहते थे, परन्तु इन सारी आलोचनाओं के कारण उनकी श्रद्धाभक्ति में रंचमात्र भी आँच नहीं आई और वे अपनी उपासना में अटिग रहे। प्रबोधचन्द्रने बड़ी अच्छी और सासी काफी कविताएँ लिखी थीं। छायावाद की शुद्ध गम्भीर वेदना से भीगी हुई कविताएँ—पता नहीं, उनका कोई संग्रह प्रकाशित हुआ या नहीं। यदि वे कविताएँ खो गईं तो बहुत बड़ी काव्य-सम्पदा खो गई : हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार। सुना कि अन्तिम दिनों में प्रबोधचन्द्रजी विक्षिप्त हो गये थे और इस विक्षिप्तावस्था में ही उनके लौकिक जीवन की इतिश्री हो गई। उनकी अमर रचनाओं का पता लगाना चाहिए।

जिन दिनों की चर्चा मैं कर रहा हूँ उन दिनों काशी-विश्वविद्यालय में नवयुवक-वर्ग में छायावाद का प्रचण्ड वेग था और गुरुवर्ग में छायावाद का उतना ही प्रचण्ड तिरस्कार। नवयुवक कवियों में लक्ष्मीनारायण मिश्र, कैलाशपति त्रिपाठी, श्यामापति पाण्डेय, मोहनलाल द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा (जो उन दिनों 'वीरात्मा' नाम से कविताएँ लिखते थे), रामशवद द्विवेदी, बाबूलाल भार्गव 'कीर्ति', लीलावती कुँवर 'सत्य', जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' मुख्य थे। परन्तु और गुरुवर्ग में लाला भगवान दीन छायावाद का खुला विरोध करते थे और इसे 'छोकरावाद', 'छिछोरावाद' आदि अपशब्दों से अभिहित करते थे। शुक्लजी भी इसे बहुत पसन्द करते थे ऐसी बात नहीं; परन्तु उनके विरोध का भी एक साहित्यिक महत्त्व था। 'माधुरी' में उन्होंने लगातार 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता लिखी थी, जिसमें 'निराला पन्थ' पर अपना साहित्यिक बुखार उतारा था। उस समय काशी सचमुच 'ज्ञान-ग्लानि अघहानि' थी—विद्वानों का गढ़। बाबू साहब श्यामसुन्दरदास, हरिऔधजी, लालाजी, शुक्लजी तो विश्वविद्यालय में थे ही, प्रेमचन्दजी, प्रसादजी, रत्नाकरजी जैसे साहित्य और देवता भी विराजमान थे। निरालाजी प्रायः कलकत्ता से काशी आया करते थे और भदैनी में वाचस्पति पाठक के साथ ठहरते थे। नवयुवक कवियों की कविताएँ प्रायः 'चाँद' में छपती थीं। उन दिनों पं० नन्दकिशोर तिवारी उसके सम्पादक थे और मानना पड़ेगा कि तिवारीजी के कारण छायावाद को बहुत बड़ा बल मिला—प्रोत्साहन मिला। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अन्तर्जगत्' अभी-अभी प्रकाशित ही हुआ था। सम्भवतः, छायावाद की यह प्रथम प्रकाशित पुस्तिका थी। उसी समय शान्तिप्रिय द्विवेदी का एक संग्रह प्रकाशित हुआ था—नाम ठीक-ठीक स्मरण नहीं आ रहा है, परन्तु उस संग्रह में चौदह छायावादी

कवियों की रचनाएँ और परिचय थे। छायावाद की एकदम आरम्भिक ये ही दो पुस्तिकाएँ थीं।

छायावाद की निखरती जवानी का समय आ गया, परन्तु गुरुओं की अपेक्षा तिरस्कार, भर्त्सना आदि इसे प्रचुर मात्रा मे मिलती रही। श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी स्वय कवि तो नही थे, परन्तु छायावाद के प्रबल समर्थक और पोषक थे। सम्भवत, उन्ही की प्रेरणा से का० वि० वि० के प्राच्यविद्या-विभाग के हॉल मे एक महती सभा बुलाई गई, जिसकी अध्यक्षता आचार्य शुक्लजी ने की और वक्ता थे निरालाजी। यह सभा भी साहित्य के इतिहास मे ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है। निरालाजी को पहले-पहल मैंने तभी, उस सभा मे ही देखा था—क्या विशाल आर्य वपु था! सुन्दर सुडौल शरीर, बड़ी-बड़ी रहस्यमयी आँखें, नुकीली नाक, बल खाते हुए काकुल, विशाल वक्षःस्थल, सुदृढ भुजदण्ड, अंगद के-से चरण—निरालाजी सचमुच यथानाम तथारूप थे—सब प्रकार बस निराला-ही-निराला। मेघ-मेदुर ध्वनि मे उन्होंने आरम्भ मे कुछ कहा, फिर हारमोनियम लेकर जो गाना शुरू किया, समा बँध गया। हमलोग ढाई-तीन घण्टे तक मन्त्रमुग्ध उनका आर्ष संगीत सुनते रहे—निश्चय 'आर्ष संगीत' ही कहा जा सकता है;—ऊषा ने कभी गायत्री का सस्वर पाठ किया होगा, तो क्या स्वर, लय, ताल, गमक, मूर्च्छना उमडी होंगी—उसकी सहज कल्पना निरालाजी के उस संगीत-स्वर से किया जा सकता था।

मुझे ठीक-ठीक स्मरण है, निरालाजी ने प्रसादजी के ही कुछ गीत गाकर सुनाये थे—पंक्तियाँ तो याद नहीं हैं. परन्तु उसकी झंकार ज्यों-की-त्यों प्राणो के प्राण में गूँज रही है। आ० शुक्लजी पसीजे बेहद पसीजे और बाद मे तो 'ऐडमायरर' हो गये। 'प्रसाद', 'पन्त', 'महादेवी', निराला' पर शुक्लजी ने अपने इतिहास मे जितना लिखा है, बाद में जितना कुछ इन कवियों के विषय मे लिखा गया और मैं मानता हूँ बहुत लिखा गया और अभी बहुत-बहुत लिखा जायगा; परन्तु ईमानदारी की बात है कि शेष सब शुक्लजी की समीक्षा का भाष्यमात्र है—सारी मौलिकता शुक्लजी की समीक्षाओं मे समाहित है। शेष सब चर्वित-चर्वण, पिष्टपेषण-मात्र।

'प्रसादजी' पूरे 'बनारसी जीव' थे, पूरे बनारसी, शत-प्रतिशत बनारसी। वे शास्त्रार्थ से, सभा-सोसाइटियो से सदा बचते रहे—कभी-कभार कहीं गये, तो चुप-चाप ओंठो के अन्दर मुस्काते रहेंगे, बोलेंगे कुछ नही। कविता-पाठ मे तो वे एक नयी नवेली बहू की तरह शरमाते थे—सकुचाते थे, शायद एक ही अवसर ऐसा था—आचार्य द्विवेदीजी के अभिनन्दन-समारोह के अवसर पर जब प्रसादजी

अपनी 'कामायनी' से श्रद्धा-सर्ग के कुछ अंश सुनाये थे। नहीं तो वे सदा तुमुल कोलाहल कलह में मे हृदय की बात रे मन बने रहे। शुक्लजी, लालाजी, हरिऔधजी, रत्नाकरजी, प्रेमचन्दजी आदि की छायावाद-रहस्यवाद के सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया है, प्रसादजी जानते थे, खूब जानते थे; परन्तु उत्तर में वे एक शब्द भी नहीं बोले, मुँह नहीं खोला, एक अक्षर भी लिखा नहीं, सब पी गये—'जय शंकर' जो थे।

काशी-विश्वविद्यालय के अपने दो विशिष्ट अध्यापकों का पुण्यस्मरण यहाँ आवश्यक है, जिन्होंने मेरे जीवन के निर्माण में सबसे अधिक योगदान किया है। वे हैं धर्माध्यक्ष प्रो० पाटणकर और संस्कृत-विभाग के प्रो० बटुकनाथजी शर्मा। प्रो० पाटणकर लोकमान्य तिलक के सहपाठी थे और संस्कृत के धुरन्धर विद्वान्। पूज्य मालवीयजी ने लो० तिलक की प्रेरणा से ही प्रो० पाटणकर को विश्वविद्यालय के धर्म-विभाग के अध्यक्ष-पद पर बुलाया था। प्रो० पाटणकर साठ पार कर चुके थे, फिर भी इतने तरोताजा कि कभी उन्हें थका या खिन्न नहीं देखा गया। साढ़े छह फुट लम्बे, इकहरा बदन, मराठी रेशमी पगड़ी, ललाट पर श्री, लम्बा बन्द गले का कोट, मराठी शैली की धोती, मराठी चप्पल—पाटणकर साहब अपनी छड़ी लिये क्लास में पधारते, मेज पर छड़ी रखते और मेज पर ही पालथी मारकर बैठते कमर सीधी करके—समं कायशिरोग्रीवे, और फिर धर्म पर उनका प्रवचन प्रारम्भ होता। बड़ी मीठी और धीमी थी उनकी बोली और हर कॉमा, सेमिकोलन पर मीठी मुस्कान की फुलझड़ियाँ! कहीं कोई रेफरेंस नहीं, कोटेशन नहीं। 'मनुस्मृति' या 'गीता' का उद्धरण नहीं—पचा-पचाया अनुभूत स्वयं धर्मतत्त्व उनकी वाणी का माध्यम लेकर अपने-आपको व्यक्त कर रहा है। क्लास में सन्नाटा है, यहाँतक कि पिन गिर जाय, तो सुनाई पड़े। पाटणकर साहब के प्रवचन सुनने के लिए साइन्स कॉलिज और इंजिनियरिंग कॉलिज के छात्र दौड़े-दौड़े आ रहे हैं और कितनी श्रद्धा-भक्ति के साथ श्रवण कर रहे हैं—श्रवण क्या कर रहे हैं, अमृत-पान कर रहे हैं। प्रो० पाटणकर ने ही हमें राल्फ वाल्डो ट्राइन Ralph Waldo Tryne के 'इन ट्यून विथ दी इनिफिनिट' 'In tune with the Infinite' पुस्तक दी थी, जिसका मेरे जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव है। ट्राइन और इमर्सन उनके प्रिय लेखक थे और वे जिज्ञासु छात्रों को बड़े प्रेम से इनकी पुस्तकें पढ़ने के लिए दिया करते थे। पाटणकर साहब धर्म के जैसे मूर्तिमान् विग्रह थे। प्रेम-करुणा में पगी हुई उनकी वाणी सीधे हृदय में उतर जाती थी और लगता था, इस एक व्यक्ति के सान्निध्य के कारण ही विश्वविद्यालय में आना सार्थक हुआ। दो विशेषताएँ सदा उनकी याद आती रहेंगी—बुढ़ापे में भी सदा मेरुदण्ड को सीधा करके बैठना और सदा प्रसन्न मुखमण्डल बना रहना। उनकी लाल रेशमी पगड़ी और ललाट पर का तिलक उनकी

वैष्णवता का द्योतक था। धर्म के ऐसे आचार्य मिल जायें, तो सभी धर्म पढ़ना और सीखना चाहें। उनके निधन पर विश्वविद्यालय की पत्रिका में मैंने 'पुण्यस्मरण' लिखा था।

दूसरे प्राध्यापक, जिनका प्रभाव मुझपर विशेष है वे हैं, हैं क्या, थे, प्रो० बटुकनाथ शर्मा—संस्कृत-विभाग में। एक विचित्र करुण कथा थी इनके जीवन की—वही करुणा इनके जीवन में तपश्चर्या की प्रेरणा बन गई। बात यह थी कि जब ये विद्यार्थी थे, तब इनकी छोटी बहन छोटी उम्र में ही वैधव्य के वज्रपात से आहत हो गई। उसी समय शर्माजी ने संकल्प कर लिया कि वे अपनी बहन के प्रति सच्ची सहानुभूति में स्वयं भी आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे और इस संकल्प को उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ अन्त तक निबाहा। उनका एकमात्र व्यसन विद्या का ही था, अहोरात्र विद्याविलास। बहुत सीधा-सादा वेश, कुरता, दुपट्टा, कश्मीरी टोपी—गले में कुरते के नीचे रुद्राक्ष की माला—गौर वदन पर कुंकुम रोली। वे 'उत्तर-रामचरित' पढ़ाते। पढ़ाते क्या, स्वयं रसमग्न होकर सम्पूर्ण क्लास को रसमग्न कर देते। भवभूति के 'उत्तररामचरित' का मुख्य स्वर करुण रस का है—वह एको रसः करुण एव मानता है—जहाँ छाया-सीता का उल्लेख है, वहीं आया है—अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'—इस अंश को पढ़ाते समय शर्माजी की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते और सारा क्लास करुण रस की धारा में बह जाता। उनसे पढ़ा हुआ 'उत्तररामचरित' अब भी मेरे पास सुरक्षित है, जिसके कई पृष्ठों पर आँसुओं के दाग ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। यह मानना पड़ेगा कि 'उत्तररामचरित' पढ़ाने के लिए शर्माजी जैसा प्रभावशाली प्राध्यापक मिलना कठिन क्या, असम्भव ही है। उनका स्फटिक की तरह निर्मल चरित्र, गंगा की तरह निर्मल वाणी, सूर्य की तरह निर्मल व्यक्तित्व सारे-के-सारे वातावरण पर छा जाता और लगता, हम किसी और लोक में हैं। उनके विद्याविलास का कहीं अन्त न था। फ्रेंच, जर्मन, रसियन, पोलिश आदि भाषाओं में उन्होंने दक्षता आयत्त कर ली थी और अपने देश की शायद ही कोई भाषा हो, जिसपर उनका अक्षय अधिकार न हो—यहाँ तक कि सबसे कठिन भाषा पश्तो पर भी घर की तरह उनका एकाधिकार था। अध्यापकीय जीवन में उन्होंने बहुत विशाल अपना निजी पुस्तकालय बना लिया था—विविध भाषाओं और विविध विषयों के सहस्र सहस्र ग्रन्थ उनके पुस्तकालय में थे—रात-दिन स्वाध्याय में डूबे रहते। निधन के कुछ पूर्व अपना सम्पूर्ण पुस्तकालय वे हिन्दू-विश्वविद्यालय को दान कर गये—और विश्वविद्यालय के विराट् गायकवाड़-ग्रन्थागार में शर्माजी से प्राप्त ग्रन्थों का एक स्वतन्त्र कक्ष ही है।

सब घट मेरा साइयाँ
सूनी सेज न कोय।
भाग उसी काहे सखी
जा घट परगट होय॥

गणेशशंकर की राष्ट्रभक्ति मे मिल गई स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिक मस्ती। अब क्या कहना था, क्या पूछना था—'छके रहौं दिन रैन।' स्वामी राम के कुछ तराने अब भी ज्यों-के-त्यों प्राणो को गुदगुदाते है—

न है कुछ तमन्ना न कुछ जूस्तजू है,
कि वहदत में साकी न सागर न बू है!
मिलीं दिल को आँखें जभी मारफत की,
जिधर देखता हूँ सनम रूबरू है!
गुलिस्ताँ में जाकर हर इक गुल को देखा,
तो मेरी ही रंगत वो मेरी ही बू है!
मेरा तेरा उट्ठा, हुए एक ही हम,
रही कुछ न हसरत न कुछ आरजू है!

कितना मीठा अद्वैत! रससिक्त कवि-हृदय का प्यार-भरा अद्वैत!

मैं तू हुआ, तू मैं हुआ,
मैं देह हुआ तू प्राण हुआ।
अब कोई यह कह न सकै
मैं और हूँ तू और है॥
जिस तरफ अब निगाह जावे है।
आब ही आब नजर आवे है!
० ० ०
प्यारे तोर रंग में समाय रही!
और रंग जो हैं काहे प्रिय होवें
प्रीतम रंग में लुभाय रही!
रंग वही, रंगरेज वही,
मैं चटक चुनरिया रँगाय रही।
हमरे पिया हम पिया को री सजनी,
पिया पर जियरा गँवाय रही।
मैं पिया तोरे रंग में समाय रही!

और उस मौज का आनन्द——
रिमझिम रिमझिम आंसू बरसें
यह अब्र बहारें देता है।
क्या खूब मजे की बारिश है,
यह लुत्फ वसल का लेता है॥
किश्ती मौजों में डूबे है,
बदमस्त उसे कब खेता है।
यह गर्काबी है जो उठना,
मत झिझको, उफ बरबादी है॥
क्या ठंडक है, क्या राहत है,
क्या शादी है, आजादी है॥
जब उमड़ा दरिया उल्फत का,
हर चार तरफ आबादी है,
हर रात नई इक शादी है,
हर रोज मुबारकबादी है।
क्या ठंडक है, क्या राहत है,
क्या शादी है, आजादी है।

प्रेममद का नशा अत्यन्त चढ़ा हुआ है, इसलिए अब चाहे कोई कुछ कहे, सारा संसार तो तुच्छ हो रहा है। हे जगत् के रोग, तू अब रुख्सत हो। हे भूख-प्यास, तुम दोनों मेरे पास से परे हटो। यह जगह कोई कबूतरखाना नहीं है—तुम्हारे रहने-सहने का घर नहीं है। आहा! सौन्दर्य की तेज ज्वाला कैसी भड़की हुई है। अब किस परवाने की शक्ति है कि इसके आगे पर भी मार सके! सूर्य हो चाहे चन्द्र, पाठशाला हो चाहे बाग और पर्वत—इन सबमें अपनी ही सुन्दरता तरंगें मार रही है, अन्य किसी रूप की नहीं। हे मेरे प्राण! इस देह से उठकर राम के स्वरूप में लीन हो जाओ। और, देह ऐसी हो जाय, जैसी बदरीनारायणजी की मूर्त्ति, कि जिसमें बालकवत् चेष्टा भी नहीं है।

बसा है दिल में मेरे वह दिलबर
है आईना में खुद आईनागर।
अजब तहय्युर हुआ यह कैसा
कि यार मुझमें मैं यार में हूं।

मैं बी० ए० में आ गया हूं—हिन्दी, संस्कृत, अँगरेजी, तीनों साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन का दुर्लभ अवसर मिल गया है। आइ० ए० में प्रथम श्रेणी

अच्छी पोजीशन तथा हिन्दी में 'डिस्टिंक्शन' के कारण सहज ही हिन्दी-विभाग के प्राध्यापकों का स्नेह मिल रहा है, वात्सल्य-स्नेह। 'जायसी' में 'ऑनर्स' ले रखा है, जिसके लिए आचार्य शुक्लजी के निवास-स्थान दुर्गाकुण्ड के पास 'गुरुधाम' में सन्ध्या समय विद्याभूषण के साथ जाता हूँ। शुक्लजी को पहले देखने से डर लगता था, उनकी मूँछों की कट निहायत डरानेवाली है—दोनों छोर से बहुत दूर तक साफ—नाक के आस-पास घनी और नीचे लटकती मूँछें! परन्तु, सान्निध्य में आने पर तो लगता है, शुक्लजी जैसा सरस प्राणी मिलना कठिन है। शुक्लजी के घर पर बस प्यार का ही वातावरण है, उनकी बिल्लियाँ, उनके नाती-पोते, उनकी मीठी-मीठी बातें और मिठाई भरी तश्तरियाँ। थोड़े ही दिनों में शुक्लजी से मैं 'परच' गया और अपार वात्सल्य-स्नेह की वर्षा में नहाने लगा।

हरिऔधजी ब्रजकाव्य पढ़ाते थे, 'प्रियप्रवास' तो पढ़ाते ही थे। लालाजी 'रामचन्द्रिका' पढ़ाते थे, केशवजी 'कामायनी' और बाबू साहब 'साहित्यालोचन'। बड़थ्वालजी निर्गुण काव्य पर हिन्दी में प्रथम डॉ० लिट्०, लिया था। क्लास सबसे आनन्ददायक लालाजी का ही होता था। वे खड़े होकर पूरी शक्ति लगाकर बोलते थे। रजिस्टर में छात्रों के नाम अँगरेजी में छपे होते थे—लालाजी प्रतिवर्ष उन्हें हिन्दी में अकारादि क्रम से सजा कर अपने पुष्ट अक्षरों में लिखते थे। यह उनका नियम था। अक्षर शुक्लजी के भी सुन्दर होते थे—क्या अँगरेजी के, क्या हिन्दी के। परन्तु, क्लास उनका बहुत 'डल' होता था, महा गद्यात्मक। हरिऔधजी को अपने मुहावरों पर बहुत नाज था। हरिऔधजी के अक्षर असुन्दर थे। बाबू साहब का क्लास स्कूली वातावरण बना देता था। परन्तु, इन सबकी अपनी-अपनी विशेषता थी, अपना-अपना 'स्कूल' था। लालाजी के 'स्कूल' के परम वर्चस्वी विद्वान् हैं आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र। बाबू साहब के 'स्कूल' के हैं पं० नन्ददुलारे वाजपेयी। शुक्लजी के 'स्कूल' के हुए माधवजी, पं० चन्द्रबली पाण्डेय और सीताराम चतुर्वेदी और केशवजी के 'स्कूल' के हैं प्रो० पद्मनारायण आचार्य। यह परम्परा अनन्तकाल तक चलती रहेगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

हर एकादशी को या किसी अन्य महत्त्वपूर्ण पर्व पर पूज्य मालवीयजी रेशमी चादर ओढ़े, खड़ाऊँ पहने विश्वविद्यालय के केन्द्रीय हॉल में जो 'कथा' बाँचते थे, वह विश्वविद्यालय के छात्रों-अध्यापकों के लिए अमृत-वर्षा ही करते थे। पूज्य मालवीयजी के पिताजी भी श्रीमद्भागवत के सुप्रसिद्ध कथावाचक थे। मालवीयजी महाराज की भी कथा बाँचने की शैली अपूर्व थी। हजारों छात्र-छात्राओं को जब वे 'प्यारे बेटे, प्यारी बेटियो!' कहकर सम्बोधित करते थे, तब हमलोगों

का हृदय गौरव और गर्व से भर उठता था। ऐसे 'कुलपति' की सन्तान होने का गर्व निश्चय ही असाधारण है। 'कुलपति' शब्द जितना पूज्य मालवीयजी महाराज और सर आशुतोष पर फबा और जमा, उतना शायद पहले किसी पर नहीं, बाद में भी किसी पर नहीं। अब तो उपपति की तरह उपकुलपति होते हैं—वास्तव में, सच्चे अर्थ में तो कुलपति केवल मालवीयजी और सर आशुतोष ही हुए, काशी और कलकत्ता-विश्वविद्यालयों में। काशी-विश्वविद्यालय में पूज्य मालवीयजी महाराज के कारण घर बैठे देश-विदेश के महापुरुषों के दर्शन हो जाया करते थे। लाला लाजपत राय, भाई परमानन्द, स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज, रवि बाबू, सरोजिनी नायडू, मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, सर जे० सी० बोस, सर पी० सी० रे, सर सी० वी० रमण, चिन्तामणि, केलकर, जयकर, परांजपे आदि-आदि। एक बार यूनिवर्सिटी-पार्लियामेंट में देवदास गान्धी, जवाहरलाल नेहरू और गोविन्द मालवीय तीनों, तीन महापुरुषों के सुपुत्र बोले थे। उसी में आचार्य कृपलानी और सर सी० वाई० चिन्तामणि भी बोले थे।

परन्तु, एक व्यक्ति की विशेष पावन स्मृति अभी झलक उठी है। वे हैं स्व० माधवराव सप्रे—लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' का मराठी से हिन्दी में अनुवाद करनेवाले। सप्रेजी के दोनों लड़के नारायणमाधव और शंकरमाधव काशी-विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। उन्हीं से मिलने माधवराव सप्रे आये थे। नारायण-माधव और शंकरमाधव दोनों ही मेरे सहपाठी थे। सप्रेजी को देखकर प्राचीन काल के ऋषियों और तपस्वियों की स्मृति उमड़ आती थी। नंगे पैर, खादी की एक धोती, खादी की एक चादर—बस। मझले कद के, गोरे-से रंग के, खल्वाट, सतेज मराठी दृष्टि—ज्ञान भक्ति में डूब गया हो जैसे। माधवरावजी 'ज्ञानोत्तरा भक्ति' के सिद्ध साधक थे—बाद में तो वे रामदासी सम्प्रदाय में चले गये थे, जिसमें जप, कीर्त्तन, स्मरण, भजन आदि सबका मूलमन्त्र है—'श्रीराम जय राम जय जय राम'। यह समर्थ रामदास—छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरुदेव का मन्त्र है, जिसने महाराष्ट्र को एक नई शक्ति, नई ज्योति, नई प्रेरणा और नया जीवन-दृष्टि-कोण दिया है—सदा देता रहेगा। स्व० माधवराव सप्रे को बस कुछ क्षणों के लिए ही मैंने नारायणमाधव के कमरे में देखा था। सन् १९२६-२७ ई० की जुलाई-अगस्त की बात है—पर स्मृति ज्यों-की-त्यों आज भी हरी है। लगता है, वे सामने खड़े हैं और मैं देख रहा हूं इन चर्म-चक्षुओं से। ऐसी प्रशान्त अन्तर्मुखी मूर्त्ति फिर देखने को नहीं मिली। तो, लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' का अनुवाद प्रारम्भ करते हुए स्व० माधवरावजी ने सन्त तुकाराम के एक अभंग का हिन्दी-रूपान्तर शीर्षक-रूप में दिया है, वह है—

संतों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी वाणी।
जानूं उसका भेद भला मैं क्या अज्ञानी।

सन्त महापुरुषों की विनम्रता भी किस सीमा का स्पर्श कर सकती है, उसका यह एक जीवन्त उदाहरण है। अस्तु।

मैंने सप्रेजी के चरण छुए और उन्होंने मेरे मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया—इसे मैं अपने जीवन का परम सौभाग्य मानता हूँ।

हाँ, जिन दिनों की मैं चर्चा कर रहा हूँ 'प्रसाद' जी का 'आँसू' अभी छपकर आया ही था।—छोटी-सी पुस्तिका—बहुत ही छोटी, मुश्किल से २०-२५ पृष्ठ होंगे। परन्तु, सच तो यह है कि हिन्दी-साहित्य के आरम्भ से अबतक के इतिहास में एक छोटी-सी काव्य-पुस्तिका ने अपने युग के युवक-युवतियों को इतना स्पन्दित-प्रेरित-आन्दोलित किया है—'आँसू' के मुकाबले में कोई भी काव्यग्रन्थ ठहरता नहीं, ठहर नहीं सकता, 'भारत-भारती' भी नहीं, 'पल्लव' भी नहीं, 'अपरा' भी नहीं, 'उर्वशी' भी नहीं।

'आँसू' के छन्द प्रत्येक छात्र-छात्रा के न केवल जीभ पर, बल्कि हृदय में गूँजते रहते थे। कहना चाहे, तो कह सकते हैं एक पूरी दशाब्दी भर, हिन्दी-काव्यजगत् पर 'आँसू' छाये रहा। उसमें व्यवहृत छन्द 'आँसू छन्द' कहा जाने लगा और बाद में कइयों ने उसपर हाथ आजमाया। परन्तु, प्रसाद के 'आँसू' की टक्कर की कविता हिन्दी में लिखी गई, इसका पता मुझे नहीं। 'आँसू' ने कइयों को कवि और कवयित्री बना दिया और जादू वह, जो सिर पर चढ़कर बोले—बाबू श्यामसुन्दरदास, लाला भगवान दीन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं० अयोध्या सिंहजी उपाध्याय, 'हरिऔध' ने छायावाद का लोहा माना, तो 'आँसू' के कारण ही।

परन्तु, 'आँसू' गाना, समझना और उसमें डूबना जितना आसान था, समझाना उतना ही कठिन। गुपचुप उसका भाव समझिए और रस में गोते लगाइए, परन्तु जहाँ समझाने की बारी आती कि बस सटक सीताराम!

'आँसू' पढ़ाने का बीड़ा उठाया आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने। आधुनिक काव्यधारा की अन्तःप्रकृति से केशवजी का 'सामरस्य' था। उनसे पढ़ा 'आँसू' सचमुच किस अन्तर्लोक में हमें ले जाता था, कहकर समझाना कठिन है। केशवजी की बोली मधु से भी मीठी थी—ललिता, विशाखा की बोली की मिठास उनकी वाणी में थी। हृदय के धनी, वाणी के धनी, प्रेम की जीती-जागती मूर्त्ति। वे मूर्त्तियाँ हाय कहाँ चली गईं!

एक बार बाबू साहब ने बड़ी कोशिश की कि स्वयं प्रसादजी 'आँसू' पढ़ाने के लिए विश्वविद्यालय पधारें। परन्तु, प्रसादजी प्रसादजी थे। उन्होंने हँसकर बाबू

साहब के आग्रह को ऐसे ढंग से टाल दिया कि बाबू साहब पर प्रसादजी की शालीनता का रंग छा गया। प्रसादजी कभी अपनी कविताओं की चर्चा नहीं करते थे, चर्चा करने पर नई बहू की तरह शरमाते और बात को किसी और दिशा में मोड़ देते, फिर पान का दौर चलता। प्रसादजी का भी कैसा निराला व्यक्तित्व था! घर पर सदा सफ़ेद तहमद पहने नंगे बदन मिलते। चन्दई में ईंगुर मिला दिया जाय तो प्रसादजी के शरीर के रंग का अन्दाज लगाया जा सकता है—उन्मुक्त बनारसी हँसी, जिसमें बनारसी पान के साथ बेशकीमती जाफ़रानी की खुशबू गमकती होती। घर पर कुर्सी, मेज, सोफ़ा आदि का नाम नहीं—बस चौकियाँ और उनपर बिछी शीतलपाटियाँ और दो-चार मसनदें। सारा वातावरण निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व, अलमस्त—'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' ऐसे लोग साहित्य से कहाँ चले गये, ऐसी बैठकें और बेतकल्लुफ़ियाँ कहाँ चली गईं—आज तो जिसे देखिए आपाधापी में मगन है। आज का साहित्य और साहित्यकार नरक में नहा रहा है!

हाँ, 'आँसू' को ही श्रेय देना चाहिए और विनय भैया (अब आचार्य विनयमोहन शर्मा) के संग को कि कविता का नशा इन पंक्तियों के लेखक पर भी छा गया और ऐसा-वैसा नहीं। रात-भर कविता लिखी जाती—दिन में विश्वविद्यालय के ऊपर मन्दिर में बैठकर, मैं विनय भैया को सुना रहा हूँ, विनय भैया मुझे सुना रहे हैं—स्वर न मेरे पास था और न उनके पास, परन्तु प्रेममय हृदय हम दोनों का था—प्रेम के रस से लबालब, छलछलाता हुआ हृदय। एक-एक रात में दो-दो सौ पंक्तियाँ कविता की लिखी गईं—प्रायः सब-की-सब आँसू छन्द में। वे कविताएँ 'सुधा' में, 'माधुरी' में, 'चाँद' में और 'मनोरमा' में छपीं—विनय भैया की और मेरी साथ-साथ। मुझे अपनी बहुत सारी कविताओं में बस एक ही याद है—केवल एक, जो सन् १९२६ ई० की जन्माष्टमी पर 'प्रताप' में छपी थी—नवीनजी द्वारा संशोधित और प्रशंसित होकर। शीर्षक था 'मूक माँग' और वह कविता (??) है—

बनी रहे हिय मधुर वेदना,
बहते रहें अश्रु-निर्झर।
व्याकुल प्राण सदा तेरे
दरशन हित बने रहें नटवर!
सदा खोजता जाऊँ मैं,
पर तू अनन्त में मिलता जा।
आतुर आँखों के ओझल हो,
झिल-मिल सा तू हिलता जा॥

यों छककर हम खोज-ढूंढ़ से,
करने लगें कूच जब प्राण।
दिना प्रयाग भाव-वैभव से
गूंज उठे हियतन्त्री तान।
रिमझिम बजनी पाँव पैंजनी
मुरली मधुर बजाते नाथ।
आ हिय आंगन लगो नाचने
हम भी नवें तुम्हारे साथ॥

नवीनजी के प्रेम-भरे प्रोत्साहन पर इसी ढंग की दस-बारह तुकबन्दियाँ 'प्रताप' में छपी। लम्बी कविताएँ 'सुधा', 'माधुरी', 'चांद' और 'मनोरमा' में। परन्तु, कविता का नशा स्वामी रामतीर्थ और गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रभाव में आगे चलकर उतर गया और उसके चरम प्रसाद के रूप में मुझे मिली 'मीरां की प्रेम-साधना'।

गंगास्नान तो गंगास्नान ही है, चाहे जहाँ भी किया जाय; परन्तु हरिद्वार और काशी के गंगास्नान का और ही आनन्द है। हरिद्वार और काशी के गंगास्नान मे भी थोड़ा भेद है, बहुत सूक्ष्म। हरिद्वार की गंगा की धारा इतनी प्रखर है कि वहाँ निश्चिन्त निर्द्वन्द्व स्नान और यथेच्छ तैरने का पूरा-पूरा आनन्द नहीं उठाया जा सकता। धारा बेहद तेज है और धारा में इतने पत्थर हैं कि जरा-सा असावधान होने पर न केवल बह जाने का डर है, बल्कि सर फोड़ लेने की भी आशंका पूरी है। और, अब तो हरिद्वार में पंजाबी परिवार इतने आ बसे कि वहाँ का गंगास्नान भी अब रोमानी बनता जा रहा है और लगता है धीरे-धीरे वहाँ महज 'पिकनिक' का भागता-फिरता हल्का आनन्द शेष रह जायगा। ठीक इसके विपरीत, काशी के गंगास्नान में एक विचित्र गरिमा, पवित्रता और साधुता है। उसमें 'बनारसीपन' भी है, परन्तु वह वहाँ की पवित्रता और शालीनता को दबा नहीं बैठता। मिट्टी की कुप्पी में आपने एक आने का तेल लिया, शरीर मे लगाया, जल में उतरे, खूब जी भर तैरे, कपड़े पहनकर सन्ध्यावन्दन किया, सूर्यनारायण को अर्घ्य दिया, गायत्रीजप की, फिर गंगाजल और पुष्पादि लेकर चले—अन्नपूर्णा और विश्वनाथ का दर्शन-पूजन करने। सन्ध्या समय दुर्गाजी और संकटमोचन का दर्शन। यह एक सामान्य कार्यक्रम काशी में रहनेवालों का है। काशी चौबीस घंटे में तीन रूप बदलती है। प्रातः ३-४ बजे से ८-९ बजे तक गंगास्नान, पूजा-पाठ, जप, ध्यान आदि। १० से ६ बजे संध्या तक लोक-संग्रह, ६ से ९ तक पुनः कथा-कीर्तन तथा नाव पर बूटी छानना और 'का हो राजा, काहो गुरू' के सम्बोधनों से अभिभूत स्नेहसिक्त आत्मीयतापूर्ण वातावरण,

रात ९ से १२, १ तक विलासिनी काशी। काशी में जितना भजन-पूजन है, उससे कम भोग-विलास नहीं। सिद्ध और शक्ति का सिद्धपीठ है। अन्नपूर्णा और विश्वनाथ की लीलाभूमि है; कबीर, सूर, तुलसी का भक्तिक्षेत्र है; शंकर, रामानुज, वल्लभ, चैतन्य का आचार्यपीठ है और आज भी म० म० पूज्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, म० म० प० श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा स्वा० महेश्वरानन्दसरस्वती और श्रीकरपात्रीजी महाराज जैसे विश्वविजयी दिग्गज विद्वानों के विद्याविलास की साधनभूमि है।

परन्तु, मैं कहाँ चला गया? ज्ञानवानि अघहानिकर काशी की स्तुति शब्दों में की जा सकती है? सम्भव नहीं, सम्भव नहीं। मैं तो अपने प्रातःकालीन गंगास्नान की सुखानुभूति की दिव्य स्मृति में नहाना चाहता हूँ। कमच्छा पर जबतक रहा, ललिता-घाट, हरिश्चन्द्रघाट का गंगास्नान अखण्ड भाव से बना रहा। विश्वविद्यालय में आने पर नगवा में बाबू शिवप्रसाद गुप्त की कोठी 'सेवा-उपवन' के नीचे 'विश्वविद्यालय-घाट' पर नित्य नियमपूर्वक स्नान चलता रहा। उसी घाट पर नाव पर हरिहर बाबा रहते थे। पिछले तीस वर्षों से वे नाव पर ही बारहों महीने, ऊपर, नंग-धड़ंग रहते थे। प्रज्ञाचक्षु थे। बड़ी नाव के ऊपर एक पटरा था, जिसपर एक विशाल बाघम्बर बिछा रहता था। बाबा तीसों दिन, बारहों महीने, क्या गरमी, क्या जाड़ा, क्या बरसात, उसी पर आसन मारे चुपचाप बैठे रहते थे।

हरिहर बाबा को लोग विश्वनाथ का अवतार मानते थे। शौच के लिए वे उस पार रामनगर की ओर जाते थे और नाव पर कभी-कभी जब विश्वनाथ-अन्न-पूर्णा के दर्शन के लिए जाते, तब घाटों पर से 'हर हर महादेव' की तुमुल ध्वनि होती, जयजयकार होता। बाबा को भाँग बहुत प्रिय थी। परन्तु थे बड़े ही ऊँचे मस्त, स्थित-प्रज्ञ, वीतराग महात्मा। चमड़ा उनका भैंसे के चमड़े की तरह काला हो गया था, जटाएँ बँध गई थीं और जिज्ञासुओं को एकमात्र हरिनाम और गंगास्नान का आश्रय लेने को कहते। शाम को उन्हें पं० रमाकान्त त्रिपाठी 'योगवासिष्ठ' सुनाते। एक बार हरिहर बाबा से मैंने भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में पूछा, तो वे गीता का एक श्लोक बोलकर चुप रह गये। वह श्लोक है—

> कविं पुराणमनुशासितारम् अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
> सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

बहुत आग्रह करने पर बाबा बोले—"जिसमें जन्म-मरण के सब झगड़ों का अन्त हो जाता है, जो परमानन्द स्वरूप है, जो सर्वसाक्षी है, जो आकाश से भी प्राचीन है और परमाणुओं से भी कहीं अधिक छोटा है, जिसके सहवास

से विश्व को चेतना प्राप्त होती है, जो इन सब दृश्यों का प्रसव करता है, जिसके कारण यह विश्व जीवित रहता है, जिसके सामने कार्य-कारणवाला सम्बन्ध खडा नही रह सकता, जो कल्पना से भी परे है, जो दिन के समय भी चर्म-चक्षुओं के लिए अन्धकार के समान अदृश्य रहता है, जिस प्रकार दीपक अग्नि में प्रवेश नही कर सकता, अथवा जिस प्रकार तेज मे अन्धकार का प्रवेश नही हो सकता, जो सब प्रकार निर्मल किये हुए सूर्य-रूपी किरणों की राशि है, जो ज्ञानियों के लिए सूर्य के समान है . "इतना कहते-कहते बाबा का गला भर आया, बोले—'अधिक जानकर क्या करोगे, राम नाम का आश्रय लो, सब कुछ का अनुभव तुम्हें स्वत. हो जायगा।' बाबा वर्षों उसी घाट पर रहे—एकान्त की दृष्टि से; परन्तु विश्वविद्यालय के छात्र तो आखिर छात्र ही ठहरे—लगे गरमियों के दिन में बाबा की नाव पर चढकर गंगा मे कूदने का मजा लेने। बाबा को तो कम, परन्तु बाबा के चेलो को इससे बडा उद्वेग हुआ और वे नाव को खोलकर अस्सी घाट आ गये। पूज्य मालवीयजी महाराज को यह सब मालूम हुआ, तो वे दौड़े-दौडे अस्सी गये और विश्वविद्यालय की ओर से बाबा के चरणों में क्षमा मांगते हुए बाबा को पुनः 'विश्वविद्यालयघाट' पर लौटा लाये, परन्तु अन्तिम दिनों मे बाबा पुन. स्वेच्छया अस्सी घाट पर आ गये थे; वही उनका काशीवास हुआ और अब भी उनकी विशाल नौका उसी घाट पर लगी हुई है, जिसकी जीर्णता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसमे पीपर, पाकड़ के पेड़ उग आये हैं। अब वहाँ उस नौका पर बाबा का एक विशाल चित्रपट है—पूजा-आरती होती है।

परन्तु, मैं फिर कहाँ बहक आया। मुझे कहना तो इतना ही है कि प्रातः काल के गंगास्नान में मुझे दो साथी प्रायः बराबर मिल जाते थे—वे हैं मनोरंजन बाबू और भाई विद्याभूषण। एक और मूर्त्ति है, जिसकी चर्चा कुछ विस्तार से करूँगा और वे हैं प्रात और सायं गंगास्नान के मेरे पक्के और उदार साथी प्रोफेसर रोनाल्ड निक्सन। प्रो० निक्सन कैंब्रिज के 'ट्राइपस' थे। द्वितीय महायुद्ध मे अपनी सेवाएँ सरकार को अर्पित की और फलतः हवाई जहाज से बम गिराने का प्रचुर अनुभव लिया। प्रतिक्रिया हुई, होनी ही थी। बौद्धधर्म की 'करुणा' ने इन्हें बलात् अपनी ओर आकृष्ट किया। सिलोन आये, वहाँ से बौद्धधर्म और बुद्ध भगवान् की जन्मभूमि भारत आये। लखनऊ-विश्वविद्यालय के अँगरेजी-विभाग मे १५००) मासिक पर प्रोफेसर हो गये, परन्तु अन्दर की बेचैनी चैन लेने दे, तब न? सारनाथ के आकर्षण से काशी आये और यहाँ आकर उनका मन पूरा-पूरा रम गया। वे बाबू शिवप्रसाद गुप्त के 'सेवा-उपवन' के सामने 'राधा-निवास' मे रहने लगे, जो लखनऊ-विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डॉ० ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती का निवास था। डॉ० चक्रवर्ती

के परिवार के एक सदस्य के रूप में ही प्रो० निक्सन रहने लगे। दोनों साथ नियमित रूप से गंगास्नान करने जाते। वह कोठी (राधा-निवास) एकदम गंगा-तट पर ही है—'गङ्गायां घोषः'। निक्सन साहब को तैरने का बड़ा शौक था। वे भदेरे तैरते-तैरते गंगा पार चले जाते और फिर इस पार आते। तैरते समय सस्वर ध्वनि से—**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे** का गान करते। उनको देखादेखी मुझे भी तैरकर गंगा पार करने का अभ्यास हो गया था। कई बार हम दोनों की बाजी लगती—वे प्रायः प्रथम निकलते। इस होड़ में एक बार मैं बीच में ही इतना थक गया कि यदि उनके कन्धे का सहारा न मिला होता, तो 'गंगालाभ' हो गया होता और 'जय श्रीसीताराम' के सिवा कहने को क्या रह गया होता? प्रो० निक्सन हम लोगों को चार्ल्स लैम्ब पढ़ाते थे। लैम्ब एक बड़ा ही अभागा लेखक रहा है। इण्डिया ऑफिस में एक किरानी, घर में एक पागल बहन 'एलिया', स्वयं अविवाहित, बालब्रह्मचारी समझिए। उसने स्वप्न में देखा कि उसके कुछ बच्चे हुए हैं और उन्हें वह प्यार कर रहा है—फिर नींद खुल जाती है और...!! उसे उसने अपने 'ड्रीम चिल्ड्रन' (Dream children) में ऐसी भावविभोर भाषा में व्यक्त किया है कि पढ़नेवाले का हृदय चाक-चाक हो जाता है। अपनी बहिन 'एलिया' या 'एलाया' के सम्बन्ध में भी उसने बहुत ही करुण स्मृतियाँ सँजोयी हैं। प्रो० निक्सन स्वयं बालब्रह्मचारी थे और लैम्ब में इतना रम जाते थे कि सारे क्लास को उसी में तन्मय कर देते थे। लैम्ब देखने-सुनने में सुन्दर सुहावना न था, चिपटी नाक, दबा हुआ मस्तक, भूरी-भूरी आँखें—बंसी बजाने में बड़ा ही कुशल। उसे स्टिवेंसन ने 'भावुक मूर्ख' 'Inspired Idiot' कहा है।

प्रो० निक्सन स्वपाकी थे—कट्टर निरामिषभोजी। उनका वैराग्य धीरे-धीरे गहरा होता गया और वे वृन्दावन जाकर गौड़ीय सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये और वैष्णव बाना धारण कर लिया। सात फुट ऊँचे कद का अँगरेज—गोरा भभुक्का, लम्बी-लम्बी केश राशि, जो पीछे कमर तक पहुँच जाती थी, मस्तक पर गौड़ीय वैष्णवों का गोपीचन्दन, भगवा वस्त्र, हाथ में जपमाली, गले में तुलसी की कण्ठी—यह है प्रो० निक्सन का रूपान्तर वेश 'श्रीकृष्णप्रेम'। श्रीकृष्णप्रेम उनका नया नाम सर्वथा सार्थक था। कृष्णप्रेम में मीरा की तरह लोक-परलोक की तिलांजलि देकर निकल गये—'अब तो बात फैल पड़ी जाने सब कोई।' 'लोग कहे मीरा भई रे बावरी, बाप कहे कुलनासी रे।' यही बात श्रीकृष्णप्रेम के साथ भी घटी। क्या-क्या न लोगों ने उनके सम्बन्ध में कहा। डॉ० ज्ञानेन्द्र चक्रवर्ती की एक लड़की थी मोतीरानी। लोगों ने कहा, निक्सन उससे विवाह करना चाहते थे,

नही कर सके, इसलिए वैराग्य लेकर साधु हो गये। और भी, कई तरह की 'चर्चाएँ' हुईं। श्रीकृष्णप्रेम इन आलोचनाओं और चर्चाओं पर मुस्काते रहे और मुस्काते ही रहे। अन्त में, उन्होंने पूज्य मालवीयजी महाराज को लिख दिया कि मुझसे अब अध्यापन-कार्य नही हो सकता, मुझे मुक्त कर दें, क्षमा करें। परन्तु, मालवीयजी ने लिखा कि अभी तो आप 'अध्यापक' होने के योग्य हुए हैं और विश्व विद्यालय की सच्ची सेवा करने में समर्थ हुए हैं। परन्तु, 'जा को लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो'। श्रीकृष्णप्रेमजी नही आये, नही आये। बहुत बाद, एक बार काशी आये और हम छात्रो ने उन्हे बुरी तरह घेर लिया कि कुछ बोलिए, तो वे महाप्रभु चैतन्यदेव के एक सूत्र की व्याख्या कर चुप हो गये। वह सूत्र था—

> नामे रुचि जीवे दया वैष्णव सेवन।
> इहार छाड़ि अन्य नहि जानि सनातन।
> तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
> अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

हरिनाम में रुचि, जीवों के प्रति दया, वैष्णवों का सेवन—इनसे बढ़कर धर्म क्या है, मैं नही जानता। तृण से भी अधिक नम्र, वृक्ष से भी अधिक सहनशील, एवं अमानी रहकर सबको मान देता रहे—ऐसा ही व्यक्ति हरिनाम-कीर्तन का वास्तविक अधिकारी है। अन्त में बोले, 'मैं म्लेच्छशरीर भला भक्ति की क्या व्याख्या कर सकता हूँ?' कृष्णप्रेमजी संसार से सर्वथा विरक्त होकर अलमोड़ा से काफी दूर मिर्तोला के पास पनुवानौला में भगवान् श्रीकृष्ण की प्रतिमा की स्थापना कर उन्ही की सेवा में सदा के लिए, वहीं एक आश्रम बनाकर रह रहे हैं और इस बीच उन्होंने कई प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमे The Yoga of the Bhagwad Geeta, The Yoga of the Kathopanishad, The Yoga of the Kenopanishad और The Yoga of the Bhagwat मुख्य हैं। इधर कई वर्षों से उनके दर्शनो का सौभाग्य नही मिला, पत्र-व्यवहार अब भी है—यदा-कदा वे स्वयं स्मरण कर लेते हैं अपने प्यारे माधव को।

अब मैं यह प्रसंग समाप्त करने की सोच रहा हूँ। छात्र-जीवन तो जीवन के अन्तिम श्वास तक चलता रहेगा और सच तो यह है कि एम० ए० करने के बाद ही वास्तविक छात्र-जीवन का शुभोदय होता है। विद्यानुराग और विद्याव्यसन एक ऐसा अनुराग है, एक ऐसा व्यसन है कि सम्पूर्ण जीवन को ही आत्मसात् कर लेता है। कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि सारे जीवन को ही निगल जाता है। इस अनुराग और इस व्यसन के जो 'शिकार' हैं, वे ही जानते हैं कि यह कैसा लाइलाज मर्ज है।

पढ़ो, पढ़ो, पढ़ते जाओ और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचो कि हाय ! कितना अधिक पढ़ने को रह गया, कितना कम पढ़ पाया! ज्ञान की साधना का यही चरम निष्कर्ष है। जब ज्ञान का तीसरा नेत्र खुलता है, तब पता चलता है कि किस अथाह अज्ञान में तैरता रहा हूँ—कितना कम जान पाया हूँ, जानने को तो अनन्त रह ही गया। इसे ही उपनिषद् ने कहा—अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्। जो कहता है कि मैं जान गया, निश्चय मानो, उसने नहीं जाना और जो कहता है कि मुझे कहाँ कुछ पता है, वह अवश्य जानता है। ज्ञान का यह स्वरूप ही है कि ज्ञाता को ज्ञेय में डुबा देता है, फिर कौन रहा ज्ञाता और कौन रहा ज्ञेय? ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी का आनन्द कितनों के भाग्य में है?—हममें से अधिकांश, अधिकांश क्या, शत-प्रतिशत समझ लीजिए—'पोथी पढ़ि पढ़ि मू' रहे हैं। प्रेम के या ज्ञान के ढाई अक्षरों से कहाँ भेंट हो पाती है?

परन्तु, जबतक उस 'ढाई अक्षर' से भेंट न हो, तबतक पोथी पढ़ते-पढ़ते मर जाने में क्या कम आनन्द है? हमारे ही राज्य में दो 'पढ़क्कू' हो गये—सिन्हा साहब और श्रीबाबू। इन दोनों के पुस्तकालयों और उनकी पुस्तकों पर रंगीन पेंसिलों के चिह्न देखकर दंग रह जाना पड़ता है। कितना पढ़ा इन दोनों ने! राम, राम, कहीं इतना भी पढ़ा जाता है!! और कोई पुस्तक नहीं, जिनपर इनके लाल, नीले, पीले निशान न हों। कहते हैं, इन्हें पढ़ने का नशा था, दर्द था। दर्द कहना बेहतर होगा और वह दर्द भी कैसा—

दर्द हो इक आठ पहर दिल में कि जिसका,
तसफीक दवा से न हो, तसकीन दुआ से।

बी० ए० में कविता का नशा चढ़ा और उसने रेशे-रेशे को झकझोर दिया। कुछ भी अच्छा नहीं लगता था उसके सामने। पढ़ना-लिखना, खाना-पीना, मिलना-जुलना, सब गौण। हम लोग उन दिनों विश्वविद्यालय के पास ही पंचकोशी परिक्रमा में प्रह्लाददास गार्डेन में रहते थे—स्वयंपाकी थे। चूल्हा हफ्तों नहीं जलता—कभी काजू खा लिये, कभी खजूर, कभी अमरूद, कभी कुछ, कभी कुछ और कभी कुछ भी नहीं, पूरी एकादशी। कविता की मस्ती अपनी एक निराली मस्ती होती है, जो शाहंशाहों के ताज को भी ठोकर मार देती है और बार-बार मन कहता है—

किश्ती खुदा पै छोड़ दूँ, लंगर को तोड़ दूँ।
अहसान नाखुदा का उठाये मेरी बला॥

मेरे कमरे की बगल में थे विनयमोहन शर्मा और उनके बाज में थे गंगाचरण दीक्षित। सब-के-सब दीवाने। रात-भर कविता लिखी जाती, दिन-भर गाई जाती।

लोक-परलोक की सारी चिन्ताओ से मुक्त। विनयमोहनजी 'भैया' और दीक्षित जी 'दद्दा' थे, माधवजी उन दिनो 'वैरागीजी' थे। विश्वविद्यालय के ऊखवाले मन्दिर मे बैठकर दिन-के-दिन कविता में निकल गये। क्लास चल रहे हैं, तो चलने दो, वे तो फिर मिलेंगे, कवितारानी फिर कहाँ मिलेंगी? अजीब हाल था इन परवानो का। वह 'शमा' कौन थी, यह सबकी अपनी-अपनी कहानी थी—

आई है नहाकर, जवानी शराब में।

उन्ही दिनो की एक घटना है। काशी का वसु-परिवार ललित कलाओं, सांस्कृतिक पर्वों और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के लिए सुप्रसिद्ध है। उसमें श्रीउपेन्द्र-नाथ वसु, जो थियोसॉफी-आन्दोलन मे एनीबेसेंट के दाहिने हाथ थे, वीणा-वादन मे विश्वविख्यात कलाकार माने जाते थे। काशी-विश्वविद्यालय के विशाल हॉल मे, वसन्तपंचमी के आस-पास एक कार्यक्रम वसु महोदय की वीणा का रखा गया। हॉल खचाखच भरा था। सचमुच तिल रखने की जगह न थी। मैं भी उस समारोह मे विनय भैया के साथ गया हुआ था। वीणा पर वसु महोदय की अँगुलियाँ नाचने लगी और इधर मेरे हृदय के तार झंकृत हो उठे—सारा अन्तस् झन-झन झन-झन कर उठा और कब और कैसे मैं एकदम बेहोश होकर गिर पड़ा—एकदम संज्ञा-शून्य। स्वयं श्रीगोविन्द मालवीय अपनी कार में उठाकर मुझे प्रह्लाददास गार्डेन-वाले मेरे कमरे मे पहुँचा गये। तीन चार दिनों तक मेरी स्थिति वैसी ही संज्ञाशून्य बनी रही और अन्दर-अन्दर मैं नित्य वृन्दावन के नित्य महारास का दर्शन करता रहा—प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण—एक का हाथ दूसरे के हाथ में, दाहिने भी कृष्ण, बायें भी कृष्ण, दाहिने भी गोपी, बायें भी गोपी। बीच मे श्रीराधाकृष्ण की भुवनमोहिनी युगल छवि।

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यमः
सजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

लगातार तीन दिन तीन रात उस महान दिव्य आनन्द मे डूबा रहा। विनय भैया को मेरी बेहोशी पर चिन्ता हुई,—युनिवर्सिटी के डॉक्टर, वैद्य आये। सबने देखकर कहा। सब ठीक है। इन्हे "Disturb" न किया जाय। पांचवें दिन पूर्णत: अपनी संज्ञा मे लौट आया, परन्तु उसमे इतनी गहरी उदासी आई कि जैसे मेरा सर्वस्व लुट गया—'आह वेदना मिली विदाई :'

परन्तु, यह नशा आकर एकदम गया नही—जब कभी पूर्णिमा का चन्द्रमा देखता, चम्पा का फूल देखता या ऐसी कोई वस्तु, जो 'उन' की याद जगा दे—मैं

प्रायः मूर्च्छा की अवस्था में चला जाता। विनय भैया सदा मेरे साथ रहते और सँभालते रहते। उन दिनों उनके मन में यह अन्देशा हो आया था कि शायद माधवजी सोलहों आने 'पागल' हो जायँ। परन्तु, वह पागलपन कहाँ नसीब है? शीशी में इत्र तो उड़ गया, परन्तु अबतक उसकी 'गन्ध' बनी हुई है—क्या तसल्ली के लिए यही कम है?

गंगास्नान और कविता, कविता और गंगास्नान—इसी की सनक। शाम को विश्वविद्यालय की सड़कों पर से दूर हटकर इंजिनियरिंग कॉलेज के पीछे गन्ने के खेतों की मेड़ों पर एकान्त परिभ्रमण; कभी-कभी विनय भैया, कभी दीक्षितजी साथ। किसी से कुछ भी बोलना सुहाता न था। अजीब बेखुदी थी—स्वामी रामतीर्थ का नशा सवार था। इसी समय एक और घटना घट गई—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तापर बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुणी कहहु कवन उपचार॥

बिहार के कुछ 'रईसजादे' अमीर छात्रों का एक छोटा-सा मण्डल युनिवर्सिटी से सटे एक गाँव में किराये की कोठी लेकर रह रहा था। ये लोग पँचगछिया के बाबू साहब थे—रवीन्द्र की कहानी के 'Baboos of Nayanjore' की तरह। हर छात्र के लिए एक 'खवास', एक रसोइया। हुक्का चढ़ाने के लिए, खड़ाऊँ पहनाने के लिए, जूते उतारने के लिए, कुरते का बटन खोलने के लिए—गरज कि सब काम के लिए बस नौकर। सब के अलग-अलग हुक्के। चाँदी की झालर, जिसमें चाँदी की मछलियाँ लटक रही हैं—हुक्के की चिलम उसी से ढकी रहती, लम्बा नरचा आरामकुरसी पर 'गुड़गुड़ा' रहे हैं और खूब आराम से पड़ रहे हैं—चाहे जितने माल में पास हों, हों, न हों, इसकी चिन्ता नहीं। घर से सारा सामान—चावल, दाल, घी आ जाता है। यहाँ सब काम के लिए रसोइया-नौकर हैं। फिर, चिन्ता किस बात की? किसी-किसी पर तो तीन-तीन खवास। हुक्के में गुलाबजल भरा जाता था और तम्बाकू गया से आता या काशी की सुप्रसिद्ध दूकान से। गरज कि विद्यार्थी-जीवन में पूरी नवाबी के मजे। इन 'महापुरुषों' से मेरा सम्बन्ध बिहारी होने के नाते कम था; अधिक था इस बात के लिए कि वे पढ़ने-लिखने में तेरह-बाईस थे और प्रायः मुझसे सहायता की अपेक्षा रखते थे। इन्होंने होली पर मुझे निमन्त्रण दिया। उत्सव में उत्तम सुस्वादु पक्वान्न बने, परन्तु उससे पहले जो ठंडई बनी, उसमें भाँग की मात्रा इतनी अधिक थी कि बस पीने के कुछ ही मिनट बाद बेहोशी होने लगी और हम सभी—लगभग सात-आठ छात्र थे, बदहवास होकर न जाने क्या-क्या अनाप-शनाप बकने लगे। भंग की तरंग में मालूम होता था कि आकाश में उड़े जा रहे हैं और हँसना शुरू हुआ, तो बस हँसे ही जा रहे हैं। भंग के प्रताप में पड़े जहाँ-के-तहाँ पड़े रह गये और दूसरे दिन दोपहर के बाद खूब गहरे स्नान के बाद कुछ-कुछ

होश आया। होश उतरने के बाद बेहद थका-थका लगने लगा और यह थकान चार-पाँच दिनों तक रही—जब कि दोनों शाम का गंगास्नान चलता रहा। भाँग के सम्बन्ध में मेरा वही प्रथम और अन्तिम अनुभव था। अमीरों की सोहबत का भी मेरा वही अन्तिम अनुभव माना जा सकता है।

जिन दिनों की चर्चा है, वे दिन सचमुच बड़ी मस्ती के आलम के थे। लोगों को काफी फुरसत थी, आज की-सी भागदौड़ न थी—आपाधापी न थी, आत्मप्रचार का शौक यो पागलपन को छूता हुआ न था। व्यक्ति और समाज मे शील और संकोच का प्राधान्य था—जिन्दगी मजे की थी। उन दिनों लाला भगवान दीन और मिश्र-बंधुओ मे बिहारी और देव को लेकर जो साहित्यिक दंगल चल रहा था, उसपर हर साहित्यिक की सजग दृष्टि थी। लालाजी बिहारी के पक्ष मे थे, मिश्रबन्धु देव के। कभी-कभी ये पारस्परिक आक्रमण व्यक्तिगत भी हो जाते, परन्तु शालीनता की परिधि के भीतर ही। लालाजी के आक्रमण मिश्रबन्धुओं की अपेक्षा अधिक करारे और तिलमिला देनेवाले होते थे। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-नवरत्न मे सूर, तुलसी और कबीर के समकक्ष देव को ला बिठाया। लालाजी के लिए यह सर्वथा असह्य था। यही से शास्त्रार्थ की शुरुआत है, जो काफी लम्बा चला। बाबू श्यामसुन्दरदास को यह सर्वथा नापसन्द था, पर वे बीच में पड़ना नही चाहते थे। अपनी झल्लाहट यदा-कदा वे व्यक्त कर देते थे। शुक्लजी इसका खूब आनन्द लेते रहते थे। वह समय विचित्र था। एक 'अनस्थिरता' को लेकर बाबू बालमुकुन्द गुप्त और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी मे जो शास्त्रार्थ चला, वह देखने ही लायक था। अभी कुछ दिन पहले बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' मे 'छात्रा' और 'छात्री' को लेकर जो शास्त्रार्थ चला था, वह भी उसी स्तर का था। फिर भी, हिन्दीवाले 'छात्रा' ही लिखेंगे-बोलेंगे और संस्कृतवाले 'छात्री'। कोई बीच का मार्ग मिल जाता, तो हमारे जैसे मध्यममार्गी के लिए विशेष सुविधा होती।

लालाजी काशी मे एक विद्यालय चलाते थे—अब तो उसका नाम 'स्व० लाला भगवान दीन विद्यालय' पड़ गया है। उसमे 'विशारद' और 'साहित्यरत्न' के छात्र तैयार तो किये ही जाते, प्राचीन ढंग से छन्द, अलंकार, रस, ध्वनि पर खूब जमकर पढ़ाई होती। काशी के प्रायः सभी मूर्द्धन्य विद्वानों का इसके साथ अपनत्व था, सहयोग था। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० सीताराम चतुर्वेदी, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० करुणापति त्रिपाठी, पं० रामबहोरे शुक्ल आदि सभी का उस विद्यालय के साथ परम आत्मीयतापूर्ण घनिष्ठता का नाता है। इस विद्यालय ने काशी मे हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का एक विशिष्ट स्तर कायम किया है, जिसके जवाब की संख्या शायद ही अपने देश मे हो।

लालाजी थे बड़ी रंगीन तबीयत के। क्लास में कहते, नायिका भेद क्या खाक समझोगे क्लास में। उसके अध्ययन के लिए तो अनुभव चाहिए। उनकी श्रृंगार रस की कुछ कविताएँ इतनी अधिक श्रृंगारमयी थीं कि आम कवि-सम्मेलनों में सुना सकना कठिन था, यदि उसमें महिलाएँ भी हों। 'रमा की मोटरकार' में लालाजी की एक पंक्ति है—'बड़े-बड़े लोगन को छाती पै चढ़ाय लेती, छोटे-छोटे लोगन को राह से भगाती है'।

बी० ए० परीक्षा की एक ही घटना स्मरण है—वह यह कि संस्कृत के परचे में अँगरेजी से संस्कृत में अनुवाद के लिए वर्ड्सवर्थ की 'सॉलिटरी रीपर' की पंक्तियाँ—

Will no one tell me
what she sings?
Perhaps of old unhappy
far of things
And battles long ago.

और लॉगफेलो की पंक्तियाँ—

Tell me not in mournful numbers
Life is but an empty dream
Life is real, life is earnest,
Death is not its final goal
Dust thou art, to dust returnest
Was not spoken of the soul.

आई थीं, जिनका अनुवाद मैंने 'मन्दाक्रान्ता' और 'द्रुतविलम्बित' छन्दों में किया था। उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में परीक्षापत्रों पर परीक्षकों के नाम छपा करते थे। उस परचे के परीक्षक थे पं० बटुकनाथ शर्मा। परीक्षाफल निकल जाने पर उन्होंने अपने घर बुलाकर मुझे बहुत-बहुत आशीर्वाद दिये। मेरे श्लोकों पर वे मुग्ध थे।

बी० ए० पास कर एम्० ए० में मैंने चुपचाप अँगरेजी क्यों ले ली, उसका रहस्य आजतक नहीं समझ पाया हूँ—ईश्वरीय विधान ही इसे कहना चाहिए; क्योंकि मैं तो सोलहो आना हिन्दी के लिए ही अपने को तैयार कर रहा था।

अँगरेजी के हमारे विभागाध्यक्ष थे प्रो० पी० शेषाद्रि। कैसा रोबदार था उनका व्यक्तित्व। कोट, पैंट और बूट पर भी [illegible] और मद्रासी पगड़ी।

अँगरेजी धाराप्रवाह बोलते। जार्ज सेंट्सबरी के पूरे भक्त। उनके क्लास में उनका साथ देना कठिन ही था—बहुत धीमे स्वर में तूफान एक्सप्रेस छोड़ते, फिर वे वहाँ, हम कहीं। परन्तु, हमारे सौभाग्य से जब हम षष्ठ वर्ष में आ गये, तब हमारे विभागाध्यक्ष हुए डॉ० यू० सी० नाग, लंदन के पी-एच्० डी०। नाग साहब ब्रह्मसमाजी थे, अतः उनके समस्त कार्यकलाप में उपनिषदों का तेज और ओज था। खूब मन लगाकर रस लेते हुए पढाते और शायद ही कोई विषय हो, जिसमें उपनिषदों के उद्धरण न दें। कविता पढ़ाने में तो वे एक ही थे—स्वयं रसमग्न हो जाते और सारे क्लास को रसमग्न कर देते। उनसे पढ़ी हुई पुस्तकों में प्रायः उपनिषदों के मन्त्र उद्धृत हैं। उनसे ही मैंने फ्रांसिस टॉम्सन की 'दि हाउंड ऑफ दी हेवन' (The Hound of the Heaven) कविता पढ़ी है, जिसका मेरे जीवन पर बड़ा ही गहरा और अमिट प्रभाव है—संस्कृत में 'उत्तररामचरित' का और अँगरेजी में 'The Hound of the Heaven का प्रभाव मेरे मन पर अमिट है, अक्षय है। टॉम्सन की इस कविता का भाव संक्षेप में यों है—मनुष्य भागा जा रहा है, भगवान् उसका पीछा कर रहा है, मनुष्य भागा जा रहा है, भागा जा रहा है, भागा जा रहा है—आरम्भ की पंक्तियाँ हैं—

> I fled Him down the days and down the nights
> I fled Him down the arch of Time.

मनुष्य का भागना और भगवान् का पीछा करना, ठीक जैसे कोई शिकारी कुत्ता अपने शिकार का पीछा करता है। काफी लम्बी कविता है—पढने और मनन करने लायक, आनन्द लेने लायक। अन्त में, मनुष्य भागते-भागते थककर गिर जाता है और भगवान् उसे दबोच लेता है और कहता है—

> Ah fondest, blindest, weakest
> I am He whom thou seekest
> Thou drivest love from thee
> Who drivest me.

अरे ओ भोले नादान अन्धे मनुष्य ! तू तो मुझे ही खोज रहा था, मैं ही हूँ, जिसे तू खोज रहा था। तू मुझसे भागकर प्रेम से ही दूर भाग रहा था ! पूरी कविता में निश्चय ही एक औपनिषदिक ओज और तेज है—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, और फिर डॉ० नाग आ जाते, वैष्णवी साधना पर और दुहराते—देहि मे पदपल्लवमुदारम्; श्रीकृष्ण राधा से प्रार्थना कर रहे हैं कि मुझे अपने उदार पदपल्लवों को मस्तक पर रखने दो. . ' क्या विचित्र दिव्य भाव है।

रहते थे, प्रेमचन्दजी बड़ी पियरी में—बीच में था 'बेनिया पार्क'। दोनों प्रातःकाल उसी में टहलने आते—प्रायः तहमद गंजी में और उनकी खिलखिलाहटों और अट्टहासों से बेनिया पार्क गूँज उठता। प्रसादजी की हँसी में मार्दव था, मिठास थी, रईसी थी, सुकुमारता और सलोनापन था, प्रेमचन्दजी की हँसी में ग्रामीण सरलता और भावुक तरलता थी—महज सौन्दर्य से लबालब भरी, छलकती। प्रायः इन दोनों महानुभावों को मैंने बेनिया पार्क में सवेरे-सवेरे टहलते और आनन्दोल्लास में खिलखिलाते अट्टहास करते देखा है। कहाँ गये वे दृश्य, कहाँ गये वे देवता! 'ते हि नो दिवसा गता.'!

परन्तु, उसके लिए झीकने से भी क्या लाभ? चलते-चलते मैं एक अपने औढरदानी प्रोफेसर की मधुर चर्चा करके पाठकों को नमस्कार कर लूंगा। फिजिक्स (भौतिक विज्ञान) के प्रोफेसर यू० ए० असरानी—उत्तमचन्द आत्माराम असरानी—अपनी सादगी, पवित्रता, साधुता, आदर्श छात्रप्रियता और उदारता के लिए सदा स्मरण किये जाते रहेंगे। वे उन दिनों—काफी प्रौढ़ावस्था को पहुँचने तक 'अविवाहित' थे—केवल अविवाहित नहीं, सच्चे अर्थ में ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक, वीरव्रतधारी। यों, सिन्धियों में सामान्यतः भी सूफी गन्ध रहती है। उन दिनों काशी-विश्वविद्यालय में तीन सिन्धी प्राध्यापक थे—मलकानी, सिपहमलानी और असरानी। कृपलानी बहुत पहले छोड़ चुके थे। इन तीनों में धर्मभावना प्रचुर थी, यथेष्ठ थी। असरानी साहब के घर एक 'लंगर' चलता था, जिसमें गरीब छात्रों का प्रवेश खुला था। असरानी साहब स्वयं गरीब छात्रों के साथ सखी रोटियाँ और साग खाते थे। घी-दूध की गुंजाइश न थी, परन्तु उनके चौके में 'प्रसाद' पानेवालों की संख्या काफी बड़ी होती, जिनमें से कई अखिलभारतीय ख्याति के विद्वान् हुए—डॉ० टी० एस्० मूर्त्ति (दर्शन के क्षेत्र में), डॉ० शास्त्री (गणित के क्षेत्र में)। बिहार के किसान-नेता श्रीयदुनन्दन शर्मा भी असरानी साहब के विशेष कृपापात्रों में थे। सच तो यह है कि असरानी साहब ऐसे छात्रों की खोज और टोह में रहते थे, जो साधन के अभाव में अध्ययन से वंचित हो जाने के खतरे में थे और उन्हें नाना प्रकार से सहायता पहुँचाया करते—सो भी बिना अहसान जताये। उनके घर पर प्रति रविवार को प्रार्थना-सभा की एक बैठक हुआ करती, जिसमें हम सभी शामिल होते। आरम्भ में कुछ प्रार्थनाएँ होतीं, बाद में किसी सद्ग्रन्थ का पाठ होता, फिर उस पर विवेचन, विचार-विमर्श।

आचार्य कृपलानी की तरह प्रो० असरानी ने भी पचास पार कर शादी की और फिर आ० कृपलानी के प्रभाव में धीरे-धीरे राजनीति की प्रखर धारा में उतर गये—जेल गये और फिर वही सारा पसारा, जो जेल जानेवाले किया करते हैं—असेम्बली,

कष्ट-कठिनाइयाँ, विघ्न-बाधाएँ न आई होतीं, तो मेरे जीवन में जो आध्यात्मिक आस्था और ज्योति है, उसका दर्शन भी नहीं हुआ होता। मैं उन विघ्न-बाधाओं के प्रति सदा कृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने मेरे जीवन-निर्माण में खुलकर सहायता दी।

सन १९३० ई० का साल। एम्० ए० की परीक्षा देकर घर आ रहा हूँ। स्टेशन पर अभी उतरा ही हूँ कि कुछ मित्र मिले और बतलाया कि कल मेरे गाँव के पास ही बिलौटी मे गान्धी चौतरा के पास सरदार हरिहर सिंह और उनका दल 'नमक' बनायेगा, मुझे देखने आना चाहिए। 'नमक-सत्याग्रह' की वह प्रचण्ड प्रलयंकर लहर। मैं दूसरे दिन नहा-धोकर 'नमक-सत्याग्रह' का दृश्य देखने गया, सो ऐसा गया कि तीन वर्षों के बाद लौटकर घर का मुँह देख सका। दो वर्ष विभिन्न जेलों मे एक वर्ष पूरे आवारागर्दी का जीवन। परन्तु, उसकी कथा अपने-आप मे कम मनोरंजक नही।

अपने छात्र-जीवन मे मुझे कुछ ऐसे मित्र मिले, जिनकी स्मृति सदा बनी रहेगी। उनमे एक हैं भाई चन्द्रबली पाण्डेय—हिन्दी के सजग प्रहरी और प्रबल प्रहारी।

स्व० भाई चन्द्रबलीजी से पिछले लगभग ३२ वर्ष का साथ रहा और यह साथ भी एक सच्चे सखा, सुहृद् और सगे भाई का था। पहले-पहल मुझे स्मरण है, सन् १९२६ ई० की जुलाई मे हिन्दू-विश्वविद्यालय मे हम लोग मिले थे। वे एक साल मुझसे पीछे थे। उनका अटपटा वेश बड़ा ही प्यारा लगता था। कभी उस वेश मे कोई परिवर्तन नही हुआ। वही कुरता, धोती और गले से लटकता हुआ तहाया हुआ एक गमछा। नगे पैर और नगे सिर। भाई चन्द्रबलीजी के बाहरी वेष को देखकर ऐसा स्पष्ट लगता था कि यह व्यक्ति विरक्ति का साधक है और बड़ा ही शुष्क और रूक्ष जीवन बितानेवाला, परन्तु उनके निकट आने पर जैसे-जैसे घनिष्ठता बढ़ती गई, यह अनुभव होता रहा कि हृदय मे प्रेम का समुद्र छिपाये हुए बाहर से इतना शुष्क और नीरस व्यक्ति सर्वथा विलक्षण है। सचमुच, भाई चन्द्रबलीजी सर्वथा 'विलक्षण' ही रहे। हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के मूर्द्धन्य छात्रों में उनका अन्यतम स्थान था। ज्ञान और चरित्र का इतना बड़ा धनी, साहित्य का इतना निरलस उपासक, प्रेम की ऐसी सजीव मूर्त्ति आज कहाँ देखने को मिलती है। चन्द्रबलीजी हिन्दू-विश्वविद्यालय मे एक कारण-विशेष से प्रकाश में आ गये और विश्वविद्यालय का एक-एक विद्यार्थी और अध्यापक उन्हे जान गया। विश्वविद्यालय के भोजनालय मे बहुत दिनों से चली आती हुई गड़बड़ियाँ चन्द्रबलीजी सह न सके और उन्हे सुधारने के लिए उन्होंने भूख-हड़ताल कर दी। स्वयं पूज्य मालवीयजी महाराज उन्हें मनाने के लिए छात्रावास के उनके कमरे तक आये और मालवीयजी महाराज की आज्ञा पाते ही चन्द्रबलीजी ने अपना अनशन तो तोड़

दिया, परंतु इस घटना का उनके ऊपर जीवनव्यापी प्रभाव पड़ा। उस दिन के बाद उन्होंने आग पर पकाया हुआ अन्न खाना छोड़ दिया और अब उनका भोजन हो गया कच्चा भिगोया हुआ अंकुरित चना या मूँग। दूध भी वे कच्चा ही पीते थे। फलों में भी वे अंगूर, सेब से परहेज करते थे और सहज रूप में प्राप्त देहाती फलों से ही वे तृप्त हो जाते थे।

आश्चर्य तो होता है यह देखकर कि चन्द्रबलीजी ने आधुनिक युग की समस्त विलासिताओं और सुविधाओं को सदा के लिए ठोकर मारकर अपने जीवन से हटा दिया था। उनके पास सामान जैसी कोई वस्तु थी ही नहीं। देहात के बने हुए दो कम्बल, गाढ़े की दो धोतियाँ, दो कुरते और दो गमछे, बस कुल उनका सामान था, जिन्हें वे बगल में दाबकर कहीं भी चले जाते थे। चन्द्रबलीजी रेल-यात्राओं में हमेशा तृतीय श्रेणी मे ही चलते थे। यहाँतक कि जब वे साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व करने हैदराबाद जा रहे थे या दक्षिण भारत में सद्भावना मिशन पर जा रहे थे, तब भी उनका नियम न टूटा।

कपडे बहुत थोड़े, लेकिन बड़े ही साफ-सुथरे। अक्षर इतने सुन्दर लिखते थे, मैंने मोती चुन रहे हों। हिन्दी-साहित्य में सुन्दर अक्षरों के लिए कुछ ही व्यक्ति प्रख्यात हैं, जिनमे आचार्य शुक्लजी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू शिवपूजन सहाय और प० चन्द्रबली पाण्डेय मुख्य रूप से सामने आते हैं। क्या साहित्य में और क्या जीवन में, चन्द्रबलीजी सत्य के प्रखर पारखी और उपासक थे। जीवन मे जो संकल्प ले लिया, उससे किसी भी परिस्थिति मे मुँह नहीं मोड़ा। जीवन में हार खाना उन्होंने सीखा ही नहीं। हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में एक बार प्राध्यापक-पद के लिए जब वे साक्षात्कार के लिये बुलाये गये, तब वे अपने सहज फकीराना वेष में गये। साक्षात्कार-समिति, उनकी वेष-भूषा से ही घबड़ा गई और यह सोच लिया कि ऐसा फक्कड़ आदमी प्राध्यापक होने योग्य नहीं है। यह विश्वविद्यालय और विशेषत: हिन्दी-विभाग के लिए एक बहुत ही दुर्भाग्य की बात हुई। भाई चन्द्रबलीजी की योग्यता, विद्वत्ता और महत्ता का इसी से परिचय मिल सकता है कि वे आचार्य शुक्लजी के पट्टशिष्यों में मूर्द्धन्य थे और स्वयं पूज्य मालवीयजी से बातचीत के सिलसिले में आचार्य शुक्लजी ने यह स्वीकार किया था कि उनकी योग्यता और प्रतिभा का पूर्ण वरदान चन्द्रबलीजी को मिला है। आचार्य शुक्लजी की शिष्यमण्डली में चन्द्रबलीजी का सबसे ऊँचा स्थान था और शुक्लजी प्यार में इनको 'शाह साहब' कहा करते थे। आचार्य शुक्लजी की जो अन्तरंगता और स्नेह चन्द्रबलीजी को मिला, वह शायद किसी को नसीब न हुआ। चन्द्रबलीजी एक साथ ही अँगरेजी, संस्कृत, हिन्दी और फारसी के बड़े ही मँजे हुए विद्वान् थे।

यही कारण है कि हिन्दी पर जब हिन्दुस्तानी का आघात होने लगा, तब चन्द्रबलीजी ने हिन्दी के पक्ष में एक सच्चे वीर सेनानी की तरह लड़ाई छेड़ दी। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाली 'हिन्दी' की संचिकाओं (फाइलों) को देखने से पता चल सकता है कि चन्द्रबलीजी कितने दुर्धर्ष विद्वान थे। मौलवी महेशप्रसाद, आलिम-फाज़िल के साथ चन्द्रबलीजी वर्षों बाबू शिवप्रसाद गुप्त के 'सेवा-उपवन' के सामने अमेठी कोठी में और फिर रूइया होस्टल में रहे। सम्भवत, मौलवी साहब के साथ रहने के कारण चन्द्रबलीजी उर्दू और फारसी के इतने प्रखर विद्वान् और मर्मज्ञ हो गये थे। सस्कृत में भी उनकी बड़ी अच्छी गति थी। परन्तु, सूफी साहित्य के तो वे एकमात्र अधिकारी पण्डित थे। मूल में सूफी साहित्य का जितना अच्छा अध्ययन चन्द्रबलीजी का था, उतना हिन्दी साहित्य में शायद ही किसी का हो। जायसी-ग्रन्थावली की तलाश में चन्द्रबलीजी ने 'आखिरी कलाम' शुक्लजी को दिया था। बाद में चन्द्रबलीजी की कृतियों—केशवदास और कालिदास पर जो राजकीय पुरस्कार मिले, सो तो मिले ही, परन्तु इन ग्रन्थों के कारण उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैल गई और हिन्दी का एक-एक व्यक्ति उनके नाम और यश से परिचित हो गया।

भाई चन्द्रबलीजी स्वभाव के कुछ अक्खड़-से थे और बड़े-से-बड़े दिग्गज विद्वानों से भी लोहा लेने में उन्हें संकोच नहीं होता था। पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने 'सरस्वती' में 'राधा की परकीयता' और 'हरिऔध का युद्धमस' शीर्षक जो निबन्ध-माला लिखी थी, उसका तर्कसंगत उत्तर देनेवाला हिन्दी में यदि कोई व्यक्ति हुआ, तो वह भाई चन्द्रबलीजी थे 'मधुमती भूमिका' पर उन्होंने आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र को चुनौती दी थी और 'सरस्वती' में इसपर लेखमालाएँ लिखी। महाकवि निराला की कुछ कृतियों की विशेषतः कहानियों की चन्द्रबलीजी ने बखिया उघेड़ दी थी।

साहित्य की साधना में भाई चन्द्रबलीजी आजीवन ब्रह्मचारी रह गये। लगता है कि उन्हें कुछ ऐसा रस मिल गया था, जिसके पाने और पी चुकने पर संसार के किसी और रस की अपेक्षा नहीं रहती। उनका ब्रह्मचर्य एक सच्चे तेजस्वी ब्राह्मण का ब्रह्मचर्य था और इस ब्रह्मचर्य ने न केवल उनके जीवन में, बल्कि उनके साहित्य में भी एक ऐसी तेजस्विता और प्रखरता ला दी, जो अत्यन्त दुर्लभ है। चन्द्रबलीजी अपने सिद्धान्तों पर किसी से समझौता करना नहीं जानते थे। इसीलिए कभी-कभी साहित्य के मूर्धन्य महारथियों से भी टक्कर ले लेते थे। निश्चय ही वे हिन्दी के सजग प्रहरी और प्रबल प्रहारी थे।

शोधकार्य में उन्हें एक विशेष रस मिलता था। उनकी प्रायः समस्त रचन ओ

लोग आकर कभी-कभार सोने का आनन्द ले लेते। और, पुलिस की कृपा से सोने को मिलता कहाँ था? सदा चौकन्ना रहना पड़ता था, कब पुलिस आये, गिरफ्तार कर ले, भाँडे-बरतन उठा ले जाय! पूरी और सतत सावधानी का जीवन। दिन को काम करना, रात को योजनाएँ बनाना—कभी किसी खेत में सो गये, तो कभी पुआल के ढेर में। बैलों को खिलाने के लिए जैसे सतू साना जाता है—ठीक वैसे ही वह-गुने में दो-तीन सेर सत्तू सान दिया गया, एक एक 'पिण्डी' हाथ में लेकर खाकर भर-पेट पानी पी लिया और फिर चल पड़े काम पर। अलग-अलग बिखरते समय एक दूसरे को प्यार-भरी निगाहों से देख लेते कि कहीं पुलिस की कृपा से फिर भेंट हो, न हो। क्या गजब की जाँबाजी थी—कैसी आत्मदान की स्पर्धा—कितना निर्मल पावन विवेक, कितनी प्रचण्ड कर्मठता। थकने का नाम नहीं! विराम नहीं, विश्राम नहीं। हे मानव! तूने कैसा सुनहला इतिहास अपनी आँखों देखा है!

बक्सर सेंट्रल जेल में कैसे पधारना हुआ, इसकी बड़ी ही मनोरंजक दिलचस्प कहानी है—बड़ी ही उत्तेजक-रोमांचक। पूर्णिया का एक राजनीतिक बन्दी आरा जेल में बीमार पड़ा और फिर वहीं सदर अस्पताल में मर गया। मैं था उन दिनों जिला काँगरेस कमिटी का 'डिक्टेटर'। उन दिनों 'डिक्टेटर' ही हुआ करते थे—छुरे की धार पर चलने के लिए। मैं कुछ मित्रों के साथ अस्पताल में उस मृत कैदी को देखने गया। देखकर लौट ही रहा था कि एक नर्स ने राह रोककर कहा—'अरे, तुम लोग मर्द हो और तुम्हारे एक भाई की लाश अस्पताल में सड़ने दी जा रही है?' उससे इतना सुनना था कि भोजपुरी जोश जागा—जिस कमरे में वह लाश बन्द थी, उसका ताला तोड़कर हम लोगों ने लाश को हाथों पर उठा लिया और फिर क्या था, महात्मा गान्धी की जय, भारतमाता की जय के नारों से आकाश गूँज उठा—किसी ने रथी लादी, किसी ने खादी का कफन। फिर लगा बजने शंख, घण्टा घड़ियाल। देखते-देखते जुलूस में हजारों की भीड़ हो गई—ऊपर छतों पर से पुष्पवृष्टि होने लगी—शहर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर जुलूस निकला और गांगी की ओर बढ़ा। हम लोगों ने यह नारा लगाना शुरू किया कि सरकार अब दिवालिया हो गई है, कैदियों को भोजन नहीं दे पाती, तो उन्हें दवा देकर मार रही है। यह बात सटीक बैठ गयी।

गांगी पुल पर जुलूस का पहुँचना था कि घुड़सवार पुलिस के बहुत बड़े जत्थे के साथ डी० एस्० पी० ने घेर लिया और लगा लाठियों की वर्षा करने। मैं आगे बढ़ा और बोला कि अभी तो हम लोगों को शव गंगा जी ले जाने दीजिए, कल फाँसी दे दीजिएगा। यही था वह डी० एस्० पी०, जो दिन को हमारे 'वालण्टियरों' को हण्टरों से पीटता था और रात को चुप्पेचोरी शिविर में आटे की बोरियाँ और नकद रुपये पहुँचा दिया करता था। मेरे कहने का उसपर असर हुआ, जब मैंने सारी जिम्मे-

वारी अपने ऊपर उठा ली। रात को हमलोग सिन्हा घाट ले गये—पूस-माघ का महीना, भयंकर सरदी; परन्तु हम लोगों का शरीर उन दिनों मानों वज्र का हो गया था। सरदी-गरमी, सुख-दुःख का जैसे कोई असर ही नहीं। रात वहीं गंगातट पर कटी। दूसरे दिन सबेरे आरा लौटे, तो पुलिस गिरफ्तारी के लिए वैसे ही निकली थी; जैसे म्युनिसिपैलिटी कुत्तों के शिकार में निकलती है। मगर मुझे पुलिस का ही एक सबइंस्पेक्टर बतला गया कि वारण्ट मेरे नाम है और मुझे शीघ्र विहार से बाहर चला जाना चाहिए। सिर के बाल बड़े-बड़े थे ही, एक गेरुए की कफनी, खड़ाऊँ, चिमटा, कमण्डलु धारण कर भभूत लपेटे मैं रात की गाड़ी से सीधे आरा से मिर्जापुर पहुँचा और 'मतवाला'—सम्पादक सेठ महादेवप्रसाद के घर पहुँच गया।

'मतवाला' कलकत्ता से मिर्जापुर आ गया था और प० नन्दकिशोर तिवारी अब उसके सम्पादक थे। तिवारीजी के कारण ही मैं मिर्जापुर आया और सेठ महादेवप्रसाद से मिला। सेठजी साहित्यिकों के परम भक्त थे और हर प्रकार से उनकी सेवा-सहायता करते हुए अपने को कृतार्थ मानते थे। उन्होंने मुझे मिर्जापुर के वनों में लगभग तीन महीने तक छिपे रहने की 'व्यवस्था' कर दी और मैं 'अण्डर ग्राउण्ड' हो गया!

झूम उठता है—मेरी विधवा माँ धाड़ मारकर रो रही है कि उसका एकलौता पुत्र जेल जाने की तैयारी में है। मेरे कुछ मित्र समझा रहे हैं कि तू धन्य है कि तेरा एकलौता लड़का भारतमाता की सेवा में काम आ रहा है। फिर, क्या चमत्कार कि माँ ने नया पीला यज्ञोपवीत मुझे पहनाया, रोली-अक्षत से मेरा तिलक किया और सिर चूमकर प्रसन्नतापूर्वक विदा किया—मेरा हृदय वज्र की तरह कठोर हो गया था। सारी ममता-माया मुझे छू नहीं पाती थी। मैंने चुपचाप आरा जाकर स्वयं जिलाधीश के कोर्ट मे उपस्थित होकर अपने को 'सरेण्डर' कर दिया। मैं चाहता इतना ही था कि पुलिस मुझे न पकडे, मैं स्वयं पकड जाऊँ। यही किया भी। मैं पुलिस की हिरासत मे बक्सर सेंट्रल जेल भेज दिया गया और उस समय स्टेशन पर मेरे कई बुजुर्ग मित्र मेरी गिरफ्तारी पर फूट-फूटकर रो रहे थे—कितना करुण था वह दृश्य! लगभग वैसा ही, जैसा बेटी की विदाई के समय प्रायः होता है।

आरा की विदाई और बक्सर का स्वागत—दोनो ही सुस्मरणीय हैं। बक्सर स्टेशन से जेल तक हम लोग एक विराट् जुलूस मे ले जाये गये। कैसे-कैसे विप्लवकारी राष्ट्रीय गीत उन दिनों जनता में अपने-आप फैल गये थे! वे गीत, वे भाव, वह राष्ट्रभक्ति, वह दिवानापन आज कहाँ चला गया? स्वराज्य के बाद हम कहाँ से कहाँ जा गिरे! आज उसकी झलक भी दुर्लभ हो गई। शहादत के वे दृश्य, मातृभूमि की बलिवेदी पर आत्मार्पण की वे ऊर्मियाँ! हार-मालाओं से तो हम लद ही गये थे—रास्ते भर गुलाबजल के छिड़काव से सड़कें भीग गई थी। देशप्रेम का वह ज्योतिर्मय इतिहास जिन्होंने देखा, जिन्होंने उसके निर्माण में भाग लिया, वे सब धन्य हैं।

बक्सर जेल का निवास 'सरकारी गेस्ट हाउस' का आनन्द लिये हुए था—प्रात. ८ बजे स्नान-सन्ध्या से निवृत्त हुए नही कि 'छोटी हाजिरी'—टोस्ट, मक्खन, नमकीन, गुलाबजामुन और चाय। दोपहर को १॥ बजे बडी हाजिरी मे घी मे डूबी चपातियाँ, बढिया बासमती चावल का गमगमाता हुआ भात, दो सब्जियाँ, सूप, चटनी, दही, पापड और फिर शाम को ४ बजे चाय-बिस्कुट। रात को ९ बजे 'डिनर' होता, जिसमे क्या-क्या न होता। हाँ, हम शाकाहारी जीव इसमें कुछ घाटे मे रहते—परन्तु 'उस' की एवज में हमे मिलती खीर—कभी लौकी की, कभी मखाने की। गरज कि मौज-ही-मौज। काम-धन्धा कुछ नही। ताश खेलो, शतरंज खेलो, गीत गाओ, मस्त डोलो। सोचा, रात-दिन खटकर छह महीने की मिहनत का यह पुरस्कार आराम। थे हमलोग 'अण्डर ट्रायल', इसलिए हमलोगों से कुछ काम नही लिया जा सकता था। चैन की वंशी बजती थी। अखबार मिल

जाते—रेडियो उन दिनों थे नहीं। एक महात्मा नित्य सवेरे दर्शन दे जाते और वक्सर की 'पापड़ी' और अन्यान्य मिष्टान्न काफी मिकदार में पहुँचा जाते। संयोग से एक 'कविजी' भी अन्दर आ गये थे।—ताश-शतरंज से जो समय बचता, उसमे उनकी कविता सुनी जाती या कवड्डी खेली जाती। जेल मे हर किसी को कोई-न-कोई सनक हो ही जाती है—मेरे सिर सवार हुई योगासनों की सनक! योगासनों का कुछ अभ्यास छात्र-जीवन में किया था। अब नये सिरे से जमकर अनेकानेक आसनों को सीख लिया—कहना चाहिए, सिद्ध कर लिया। चालीस-पचास किस्म के आसनों पर मेरा अधिकार हो गया। सोचता था, इसी से 'योगी' बन जाऊँगा। परन्तु हुआ 'अयोग न फकीर', रह गया पोंगा-का-पोंगा ही। सुस्वादिष्ट भोजन, नियमित जीवन, पर्याप्त विश्राम और योगासनों से शरीर खूब सुदृढ़ सुपुष्ट हो गया, ऐसा जैसा कभी न पहले हुआ, न बाद में।

'लाश केश' जैसा कि वह मशहूर हो गया, आरा के राजनीतिक जीवन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा कर गया। हमलोग उसमें चालीस-पचास व्यक्ति गिरफ्तार हुए—कुछ आरा जेल में थे, कुछ बक्सर जेल में। 'आइडेण्टिफिकेशन पैरेड' के लिए सबको एकत्र करना था। अस्तु; लगभग दो महीने बक्सर जेल का राजसी आनन्द ले चुकने पर मैं आरा लाया गया और वहाँ अपने पुराने साथियों को पाकर घर लौटने का आनन्द मिला। कमर में रस्सा, हाथों में हथकड़ी पहनाकर जब हम लोग जेल से कचहरी लाये जाते, तो पूरे शहर की मुख्य सड़कों पर जुलूस निकालने का आनन्द मिलता; क्योंकि उन दिनों बिना गाये हुए इतने बन्दी चुपचाप निकल जायं, यह सम्भव ही कहाँ था? 'लाश केश' लगभग छह महीने चलता रहा और हम नित्य खा-पीकर कपड़े-लत्ते से लैस होकर जेल से यों चलते, जैसे ऑफिस जा रहे हों।

'लाश केश' में आरा शहर के बड़े-से-बड़े अमीर और साथ ही नगर के छँटे बदमाश, गुण्डे भी गिरफ्तार हो आये थे—उनमें हम कांगरेस-कार्यकर्ता दाल मे नमक बराबर थे। इसलिए, यह मजमा काफी दिलचस्प था। देखते-देखते इन सभी महानुभावों ने राजनीतिक बन्दी होने के लिए गान्धी टोपी पहन ली थी, जो सचमुच काम कर गई। चार-पाँच मुसलमान भाई भी थे, जो राह-चलते पकड़ गये थे। जब मामला पेश हुआ, तब इन सभी ने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया बचने के लिए। वकीलों की बन आई। चूँकि, मामला काफी दिनों तक चलता रहा इसलिए इनके पैंतरे देखने ही लायक थे। क्या-क्या न सबूत मे पेश किये गये। मैं चुपचाप तमाशा देख रहा था; क्योंकि मैं जानता था कि मेरी मुक्ति कथमपि सम्भव नहीं है। सभी मुझे पहचानते थे और इसलिए भी कि, मैंने अगुआई की थी, मेरा बचना

निश्चय ही असम्भव था, सर्वथा असम्भव। मेरी अभिरुचि इसीलिए इस केस में केवल द्रष्टा की थी।

कचहरी में मेरे एक मित्र कुछ अखबार दे जाते और मैं उसी मे गर्क रहता। कचहरी में कहाँ क्या हो रहा है, इसकी ओर मेरा ध्यान कतई नहीं था। 'पहचान' के परेड मे भी मुझे सभी ने पहचान लिया था। सारी खुराफात की जड मैं ही था, इसलिए भी मुझे मजा आ रहा था कि मेरे चलते चालीस-पचास व्यक्ति जेल की हवा खा रहे हैं और कमर मे रस्सा और हाथों में हथकड़ी का मजा ले रहे हैं। उनमें से प्रायः सभी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि घटना के दिन वे आरा से बाहर थे।

केस के अन्त मे मुझसे पूछा गया कि मुझे भी कहना कुछ है क्या। मैंने साफ-साफ सारी घटना का बयान करते हुए कह दिया कि आदि से अन्त तक मैं था, सारी जिम्मेवारी मेरी ही है और यदि उस दिन मैं न होता तो पुलिस की मूर्खता के कारण कई खून हो जाते। मैजिस्ट्रेट मेरी सत्यता और निर्भयता से बहुत प्रभावित हुआ। जहां सभी गिरफ्तारशुदा व्यक्तियों को दो से ढाई साल की सजा के साथ गहरे जुरमाने हुए, मैं 'निर्दोष' करार देकर एकदम छोड दिया गया। राम! तेरी माया अपरम्पार! कहाँ मैं लम्बी सजा की प्रतीक्षा में था, कहाँ एकदम मुक्ति!

दागे फिराक सोहबते शब की जली हुई,
एक शमआ रह गई है सो वह भी खामोश है।

लेकिन उन दिनों 'मुक्ति' का मोल क्या था? बाहर जैसे ही आया, जिले के दौरे पर निकला और लगभग १५-१६ स्थानों में भाषण देने के बाद दिलीपपुर-जगदीशपुर के अपार असख्य जनसमूह में करबन्दी आन्दोलन पर गर्जन-तर्जन किया और दूसरे दिन अपने कार्यालय में लौटता हूँ, तो देखता हूँ पुलिस वारण्ट लिये प्रतीक्षा कर रही है। स्नानादि से निवृत्त हो, कार्यालय के मित्रो से गले लगकर मैं चुपचाप बग्गी में सवार हो जेल के लिए चल पड़ा, जैसे ससुराल जा रहा हूँ। इस बार मेरे साथ पकड़े गये थे जगदीशपुर के पुराने सम्भ्रान्त कार्यकर्त्ता बाबू जौखीलालजी। बहुत बुढ़ापे मे उन्हें बाल-बच्चे हुए थे, इसलिए बड़ी चिन्ता हुई उनके आदमियों की ओर से उन्हें छुडा लेने के लिए। परन्तु, बाबू कुँअर सिंह के गाँव का आदमी 'माफी' माँगे, यह कैसे हो सकता था। अस्तु; बाबू जौखीलालजी के साथ इन पंक्तियों का लेखक एक विराट् जुलूस मे गाजे-बाजे के साथ आरा कचहरी से जेल मे पहुँचा दिया गया। इस केस मे हम दोनों को छह-छह महीने का सपरिश्रम कारावास एव दो-दो हजार रुपये जुरमाने—जुरमाना न देने पर दो महीने और जेल का आनन्द; 'बी' श्रेणी। जुरमाना कौन दे, कहाँ से दे? इसलिए डटकर जेल का ही

आनन्द लिया जाना तै हुआ। और, यह श्रेणी-विभाजन भी महाविष है; क्योंकि विषमता फैलाता है, अतएव हमलोगों ने सामान्य कैदियो का जीवन ही स्वीकार किया।

जेल में काम क्या था—चक्की चलाना, सब्जी उगाना और रसोईघर का काम करना। चक्की हम लोग शौकिया चलाते थे; क्योंकि हम लगभग ४०० कैदियों के लिए काम की पूरी व्यवस्था थी ही नहीं। खेत भी थोड़े ही थे, जिसमें मूली-टमाटर उगाये गये। परन्तु, वे अपनी पूरी जवानी पर आयें, उसके पहले ही उनका भोग लग गया। प्रातःकाल की ड्रिल और शाम की कबड्डी—दोपहर का कलाम और अपराह्न मे गीता—ये ही मुख्य मनोरंजन के साधन थे। जेल मे कई लोगों को लेक्चर देने की बीमारी बेहद सताती है; कुछ को लेखक बनने की भी। दोनों बीमारियों मे कई मित्र मुब्तिला थे। मैंने 'इन इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट' नामक अँगरेजी पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद पूरा कर दिया तथा नियमित रूप से डायरी लिखता रहा, जो बाद में 'सीकचों के अन्दर से' शीर्षक से प्रकाशित हुई। पढ़ने-लिखने का खूब अच्छा मौका मिला और कई सारी पुस्तकें मैंने चाट डाली। मुख्य हैं—लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य', समर्थ रामदास का 'दासबोध' और सन्त ज्ञानेश्वरजी महाराज की 'ज्ञानेश्वरी'। रामचरितमानस, विनयपत्रिका, और श्रीमद्भगवद्गीता तो प्राणाधार ही थी।

जेल की पोशाक भी क्या गजब की होती थी—'स्लीवलेस' फतुही और 'बौटमलेस' हाफ पैंट या अण्डरवियर। कुल मिलाकर सारी पोशाक टौपलेस, बौटमलेस—अर्धनग्न फकीरों का लिबास। शुरू मे बड़ी झिझक हुई, परन्तु वाह रे मस्ती का आलम, पीछे वही सुहावना लगने लगा। जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट था मिलिटरी का एक रिटायर्ड कमाण्डेण्ट—मि० जोनाथन एडवर्ड वार्न। बड़ा ही भला आदमी। सिर से पैर तक शराफत की मूर्त्ति। हमलोगों का वह विशेष ध्यान रखता था और चाहता था कि जेल में सब कुछ शान्ति एवं मर्यादा में रहे। परन्तु, उसके अधीनस्थ जेलर और हेड क्लर्क हिन्दुस्तानी थे, जो अपना रौब गालिब करने में सदा परेशान। हेड क्लर्क थे तो काफी बूढ़े, परन्तु बेहद शौकीन। खिजाब, मिस्सी, सुरमा, पान, और इत्र के बेहद शौकीन। काकुल पर लखनवी पल्ला, पाँचों अंगुलियों मे तरह-तरह की अंगूठियाँ—निहायत नफीस कामदार मखमली जूतियाँ। परन्तु, जेल के अन्दर जब भी मिलें, तब गाली से ही बातें करें—'बे साले हरामजादे, गुण्डे, बदमाश' उनका तकुनतकिया था। हम लोगों ने भी मजाक-ही-मजाक में उनका नाम 'मियाँ झमझम' रख दिया था और ज्योंही वे फाटक के अन्दर से जेल मे आने लगते, हममे से कोई सिरफिरा जोर-जोर से कहने लगता—'लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट, लेफ्ट . . .। बस, मियाँ झमझम 'साले हरामजादे' की वर्षा करते हुए लौट जाते, तो इधर से

आवाज होती 'एबाउट टर्न'। यों मियाँ झमझम के कारण जेल-जीवन काफी जायकेदार रहा—परन्तु . . . ।

मियाँ झमझम का लखनवी व्यक्तित्व उस गद्यात्मक वातावरण को सहसा मधुमय बना देता था—पुलकित कर देता था। अकेले में उनसे बातें कीजिए, तो वाजिदअली शाह से मिलने का मजा आ जाय। क्या खालिस उर्दू जबान, क्या गजब के लहजे। मुँह पान की गिलौरियों से भरा हुआ, उम्दा किस्म के जाफरानी जरदे की खुशबू से महँमहँ, मूँछें बहुत कायदे से, तरतीब से किनारीदार शैली में छँटी हुईं; आँखों में ममीरे का सुरमा। मियाँ झमझम, बस मियाँ झमझम थे। वे चाहते थे कि जैसे ही वे अन्दर आयें, हमलोग झुक-झुककर आदावर्ज बजायें, बलैया लें, आप इस जेल के मालिक हैं, खुदावन्द करीम अल्लाहताला भी आपकी शानोशौकत के सामने फीका है आदि स्तोत्रों का पाठ शुरू कर दें। प्रायः सामान्य कैदियों से उन्हें फर्शी सलाम मिला किये थे, अतः वे इसके अभ्यस्त हो चले थे और हम लोगों से भी इसी की अपेक्षा रखते थे। परन्तु, यह हो तो कैसे ?

होली आई। मियाँ झमझम अड़ गये कि रोज की तरह सूखी रोटियाँ ही चलेंगी। हमलोग डटे हुए थे कि आज तो खेलने के लिए रंग और खाने के लिए पूए ही हों। गान्धीजी का आदेश था कि राजनीतिक बन्दी जेल के नियमों का कठोरता से पालन करेंगे; परन्तु होली के अवसर पर गाँधीजी का उपदेश कौन सुनता है? पूरी कशमकश। सुपरिण्टेण्डेण्ट मि० बार्न बाल-बच्चेवाला ईसाई सज्जन था। उसे अलग ले जाकर मैंने इस त्यौहार के बारे में सारी बातें समझाई —वह पिघल गया। रंग आया, अबीर आया, रसोई में से पूए बनने की गन्ध आने लगी—शुद्ध घी के पूए। उन दिनों कम्बख्त डालडा था ही कहाँ ? मियाँ झमझम ने इसे अपनी करारी हार मान ली। हमलोगों ने विजयोल्लास में तसले पर होली उड़ाई—'मरि फागुन बुढ़ऊ देवर लागें' . . . . . . ।

होली के पाँच-सात दिनों के बाद ही जेलों के महानिरीक्षक का दौरा था, जिसके दौरान में वे आरा जेल का भी मुआयना करनेवाले थे। मि० बार्न ने हमलोगों से सम्मिलित अनुरोध किया कि कम-से-कम आई० जी० के आने के दिन हम सभी कैदी वेष में रहें। बात यह थी कि जेल में हमलोगों को स्वतन्त्रता थी कि चाहें तो अपने वस्त्र भी पहन सकते हैं, फलतः कुछ लोग अपने कपड़े—धोती-कुरते पहनते थे, कुछ जेल के किट्स। जेल में अधिकारियों के हर अनुरोध का विरोध ही होना चाहिए, ऐसा जेल के 'क्रान्तिकारी नवयुवक-दल' ने तै कर लिया था। उन लोगों ने सुपरिण्टेण्डेण्ट की बात मानने से साफ-साफ इनकार कर दिया। अधिकारियों के लिए यह प्रतिष्ठा का प्रश्न था, इसलिए उनलोगों ने सबके कपड़े बलात् उतरवा

लिये और मात्र जेल किट्स छोड दिये। इसकी प्रतिक्रिया इतनी भयंकर हुई कि सभी कैदी एकदम नंगधड़ंग हो गये और जो ओढने-बिछाने के कम्बल थे, उसी को बीच से फाड़कर कफनी बना ली—चूल्हे की राख देह में मल ली और तसले बजा बजाकर गाने लगे—

नहिं रखनी, नहिं रखनी
सरकार जालिम नहिं रखनी...

कैसा बीभत्स वह दृश्य था! दिन को भी बाडे से बाहर निकलने मे डर लगे। 'क्रान्तिकारी नवयुवक-दल' का साथ बड़े-बूढ़ों ने भी दिया—एक पचहत्तर वर्ष के वृद्ध, जिन्हें हम बड़ी श्रद्धाभक्ति से देखते थे, उसी 'गदहपचीसी' मे शामिल हो गये। बच गये थे हम चार-पांच आदमी, जो शर्म और हया से मुँह छिपाये कोने में बैठे हुए थे—क्या किया जाय, कैसे समझाया जाय, कौन सुनता है—इस आँधी मे बेने का बतास? तीन-चार दिन तक यही भयावना दृश्य बना रहा—तसले बजते रहे, गीत गूंजते रहे—'नागा फौज' अपनी मनमानी करती रही। एक रात को मामला चूडान्त बिन्दु पर पहुँच गया, जब जेल के सारे कम्बलों को इकट्ठा कर यारों ने होली जला दी—हजार बारह सौ कम्बल स्वाहा! भोजन तैयार है—दाल में किसी ने मेढक डाल दिया, भात मे छिपकिली—सारा अन्न बरबाद। मनों चावल, दाल मोरी में बहा दी। परन्तु धन्य था मि० बार्न का धैर्य और धन्य थी उसकी सहिष्णुता। उसने आई० जी० को फोन से सूचित कर दिया कि अभी जेल का निरीक्षण स्थगित रखा जाय, अनुकूल समय की सूचना बाद मे दी जायगी।

क्रान्तिकारी नवयुवक-दल का मुझपर भी आक्रोश था। उन दिनों मेरा पेट खराब था, जेल की अधपकी अधजली रोटियाँ पचती न थीं, इसलिए जेल मे से ही बेल तुड़वाकर उसे पकाकर गुड़ के साथ सवेरे-सवेरे मैं जलपान किया करता था। बेल पकने पर गुड़ के साथ उसी का गूदा मिला देने पर ठीक हलवे का रंग ले लेता है। जेल में यह बात अफवाह की तरह फैल गई कि जेल के अधिकारी माधवजी को अपने पक्ष में करने के लिए सवेरे-सवेरे हलवा खिलाया करते हैं। इस पागलपन का प्रतिरोध करना मैंने अनुचित समझा। कई दिनों के बाद जब भेद खुला, तब नवयुवक-दल काफी लज्जित हुआ। परन्तु, मेरे मन में ऐसे बदमिजाज व्यक्तियों से सदा से उदासीनता रही है—इसलिए मैंने उनसे समझौता स्वीकार नहीं किया और अपने पढने-लिखने के काम मे विशेष तल्लीनता से लग गया। बाद मे बादल छँट गये, आकाश साफ हो गया, सूरज चमक आया और सब कुछ अपने स्थान पर ठीक-ठिकाने आ गया। और फिर—

तुम दूर हो तो फिर लिए, दिल में मुकाम है।
मैं पास हूं तो क्यों नहीं, अपनी खबर मुझे?

एक करुण कथा। जेल में मेरी माँ मुझसे मिलने आई। विधवा माँ अपने एकलौते बच्चे को देखने आई है। जबसे मैं जेल में आया हूँ, घर में कभी-कभार ही चूल्हा जलता है—किसी ने माँ से कह दिया है कि जेल मे जौ की रोटियाँ खाने को और टाट पहनने को मिलता है। माँ ने अबतक ऐसी तपस्या कभी नही की थी, जितनी उसे अपने इस नालायक लड़के के कारण करनी पड़ी—जमीन पर सोई, हफ्ते में कभी कोई खिला दे, तो एकाध कौर खाकर जी जिलाती रही। वही माँ मिलने आई है—आँचल के खूँट मे गाँव से खरकर की मिठाइयाँ और बतासे लाई है। मिलने के लिए मेरा मन ललक रहा है, परन्तु अधिकारी औपचारिकता पूरी कर रहे हैं। जेल के कमरे में एक कम्बल बिछा दिया गया है। माँ उसी पर बिठाई गई है। जेलर वही कुरसी डाले बैठे हैं कि कोई 'षड्यन्त्र' न हो जाय। माँ रो रही है, मैं भी रो रहा हूँ—कहीं कुछ भी बोलने का सूत्र ही हाथ नहीं लग रहा है। एक विधवा माँ को भगवान के भरोसे छोड़कर उसका एकलौता लड़का जेल चला जाय, माँ तड़प-तड़पकर समय काटे, यहाँ बैठा गीता-उपनिषद् पढ़े, लेक्चर दे—क्या सामंजस्य है, क्या समन्वय है! परन्तु, मेरे साथ छोटी-छोटी उम्र के जेल के दस-बारह लड़के भी माँ से मिलने आ गये हैं—माँ इन मासूम बच्चों को देखकर धीरज धरती है, आँचल के खूँट से खोलकर बतासे-मिठाइयाँ देती है—फिर हम सभी उसके चरणों में प्रणाम करते हैं कि जेलर कह उठता है—बस-बस, समय हो गया, माताजी अब आप जा सकती हैं। माँ ने पुनः एक बार वात्सल्य रस में नहाई नजरों से हम सभी बालकों को देखा। मैंने कहा, माई! इन बच्चों के भी तो माताएँ हैं—जैसे वे दुःख झेल रही हैं, तू भी खुशी-खुशी झेल ले—भगवान अच्छे दिन भी दिखलायेंगे। माँ जा रही है, जेल के फाटक से बाहर जा चुकी है—हम जालियों से लगे उसे देख रहे हैं—वह भी बार-बार पलटकर अपने लाड़ले लाल को फिर-फिर भर आँखें देखना चाहती है . . !!

फिरंगी सलतनत मे तीन पुश्त से सरकारी नौकरी, वह भी मिलिटरी की जिस परिवार में चली आ रही हो, उसी घर का लड़का पढ-लिखकर गान्धी की आँधी मे सूखे पत्ते की तरह उड जाय, यह अपने-आप में कितनी बड़ी उल्टी घटना है। परन्तु, प्रायश्चित्त तो मुझे पूर्वार्जित पापों का करना ही था—और किया भी जी खोलकर। घरवालों की आशा थी कि एम० ए० कर के कम-से-कम डी० एस० पी० तो हो ही जायगा, परन्तु भाग्य का चक्र ठीक विपरीत दिशा में अपने-आप मोड़ ले गया—मैं विवश, केवल दर्शक बना रह गया—

मैं जो सर बसज्द हुआ कभी तो हरम से आने लगी सदा—
तेरा दिल तो है सनम आशना तुझे क्या मिलेगा नमाज में ?

आरा जेल का जीवन प्राय: पारिवारिक परिवेश की सुषमा लिए हुए था। अपने कई सगा सनेही सुहृद् मित्र साथ थे। खूब चहल-पहल रहती। सुबह से शाम तक कुछ-न-कुछ कार्यक्रम लगा ही रहता। आरा जेल में यों बिहार के सभी जिले के बन्दी थे, परन्तु अधिकांश थे चम्पारन और शाहाबाद के। चम्पारन की और शाहाबाद की एक ही बोली है। चम्पारन के प्राय: सभी प्रमुख नेता उन दिनों आरा जेल में ही थे। वे जिस वार्ड में थे, उसके आँगन में आम का विशाल वृक्ष था। जब उसमें टिकोले लगे रहते, तब हमलोग चटनी के लिए प्राय' वहीं जमे रहते। उस वृक्ष के फल पकने नहीं पाये—चटनी तक ही उनकी सेवा-अवधि समाप्त हो जाती। जेल में आम-पुदीने की चटनी दरअसल एक नायाब चीज थी।

उस आम के वृक्ष के नीचे कभी-कभी लहरदार 'बिदेसिया' सुनने को मिलता—

अमवाँ मोजरि गइले, लगेला टिकोरवा से
दिन पर दिन पियराइ रे बिदेसिया।
एक दिन बहिहें राम, जुलुमी बेअरिया से
डाढ़ि पात जइहें भहराइ रे बिदेसिया।

सन् १९३० ई० की आँधी में बहुत-से आलतू-फालतू, जिन्हें अँगरेजी में 'रिफ रैफ' कहते हैं, बह आये थे—छँटे बदमाश, गुण्डे, शोहदे, आवारे। इनकी अपनी खास जमात थी और जेल के एक पूरे वार्ड को इन 'भलेमानसों' ने आबाद कर रखा था। इनके वार्ड में जब भी जाइए, कोई लहरदार गाना आलाप पर है। साथ ही ताश-शतरंज चल रहा है। लोहे के तसले पर तकली से ताल देकर इन लोगों ने एक रेकार्ड कायम किया था। क्या गजब की थी इनकी जिन्दादिली। जब भी मिलिए, कुछ नये लतीफे सुनने को, कुछ नये इशारे रस लेने को। और ये लोग कितने प्रभावशाली व्यक्तित्व रखते हैं, यह तब पता चला, जब इनकी आवश्यकताओं की सारी चीजें—साबुन, तेल, इत्र, बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, मुर्गी, शराब, सब कुछ विधिवत् नियमानुसार इन्हें समय पर पहुँचता रहता। असल में कई वार्डरों को ही इन लोगों ने 'चेला' मूँड़ लिया था और उन्हीं के सहारे रात को सभी चीजें बाकायदे इनकी सेवा में स्वयं पहुँच जाया करतीं। गरज कि इन्हें किसी बात की चिन्ता न थी—न मे कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

स्वराज्य की आँधी क्या आई, इन मनचले यारों के लिए बहार आ गई। परन्तु, उनका पूरा-पूरा आनन्ददायक रूप खिलता था शाम को, जब वे भोजन करने

बैठते। भोजन हम सभी एक साथ करते थे। जेल के चौके पर हम सभी चार-पाँच सौ बन्दी बैठ गये हैं अपने-अपने तसले लेकर। तसला एक बड़ा है, जिसमें दाल-साग परोसा जायगा, हाथ में रोटियाँ, छोटे तसले में पानी। लोहे के ये तसले माँजकर इतने चमकाये हुए रहते कि स्टेनलेस स्टील भी उसकी चमक के सामने मात। तसले बहूद्देश्यीय—'मल्टीपर्पस' थे—शौच के लिए भी, सन्ध्या के लिए भी, पानी पीने के लिए भी। सोते वक्त सिरहाने रखकर तकिया बना लिया, मीटिंग की घंटी इसी पर बजती, सामूहिक कीर्त्तन में इसी पर ताल दिया जाता। गरज कि 'तसलवा तोर कि मोर' का पूरा-पूरा अर्थ आरा जेल में समझ में आया। हाँ, हम लोग भोजन करने बैठ गये हैं—दाल परोसी जा चुकी है साग भी आ गया, रोटी चल रही है कि एक कोने से सामूहिक स्वर शुरू हुआ।

मचिया बइठल जेलर बहू_
कतरेली पान
छि...यो कतरेली पान

....

जेलर सामने खड़ा है, मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, मन मसोसकर इन छैल-छबीलों पर आया हुआ गुस्सा पिये जा रहा है। इन भोजपुरी गालियों का मजा उसे रोज-रोज नया-नया मिलता। मियाँ झमझम इन्हीं बातों के कारण इस मण्डली को किन-किन शुभ विशेषणों से याद किया करते थे!

परन्तु, कुल मिलाकर आरा जेल का जीवन 'सरस' ही था—साथी मित्रों के कारण परम आत्मीयतापूर्ण! घर की कभी-कभी याद आती, तो जी उदास हो जाता, परन्तु उदास होने के लिए जिस एकान्त की अपेक्षा होती है, वह था नहीं—भीड़ में हमजोली मित्रों के संग में उदासी टिक नहीं सकती! लेकिन अभी जेल-जीवन का एक और खुशनुमा अध्याय बाकी था, जिसकी पूर्त्ति फुलवारी जेल में हुई। बात यह थी कि जब बिहार के सारे जेल राजबन्दियों से ठमाठस भरने लगे, तब बिहार-सरकार घबराई और उसने फुलवारी शरीफ स्टेशन के पास काफी विस्तृत क्षेत्र में कँटीले तारों से घेरकर एक कैम्प जेल रातों-रात कायम किया, जिसमें टीन से छा कर कई खुले वार्ड बनवाये, जो सदाबहार वार्ड थे—जिनके अन्दर जाड़ा, गरमी, बरसात, सबके मजे खुले रूप में, प्रचुरतम मात्रा में लिये जा सकते थे। वहाँ सब-के-सब 'जनता क्लास' के कैदी रहते थे। फुलवारी का कैम्प जेल क्या था, सोनपुर का एक विराट् मेला ही था। रात दिन हज्ज-हज्ज। आदमी उसमें पागल नहीं हो जाता, यही आश्चर्य था। पाँच-छह हजार बिगडैल काँगरेसी कैदी जहाँ एक जगह जमा कर दिये जायँ, वहाँ जो कुछ न हो जायँ, कम ही था। एक-से-एक

बिगड़ैल तबियत के लोग। कायदे-कानून को ताक पर रखकर स्वेच्छाचरण ही जिनके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कानून हो—और जहाँ का सुपरिण्टेण्डेण्ट प्रान्त-भर का सबसे 'बदमाश', 'शानियल' अँगरेज चुनकर लाया गया हो, वहाँ रोज-रोज, घड़ी-घड़ी, नये-नये वारदात—बाबू लोहासिंह के शब्दों में 'दुर्घटकना' न हो, यही आश्चर्य! आज किसी के पैरों में बेड़ी पहनाई गई, आज पेनल डायट दिया गया, आज हथकड़ी पहनाकर अमुक नेता खूँटी से लटका दिये गये हैं—आज अमुक वार्ड में अनशन है, आज अमुक वार्ड में सत्याग्रह है—रोज-रोज के ताजे समाचारों से एक अजीब सनसनीखेज वातावरण बना रहता। जेल में कब किसका दिमाग किस तरह फिर जायगा, कहा नहीं जा सकता। जो आपके परम अन्तरंग सखा सुहृद् हैं, वे दूसरे ही क्षण किसी शक का शिकार होकर आपके घोर शत्रु हो जा सकते हैं—जान लेने को तैयार। दोष-दर्शन ही एकमात्र काम था इस नये कैम्प जेल में—सरकार का दोष न दीख पाये, तो मित्रों का ही दोष। अनेक मत, पन्थ, दल, सम्प्रदाय, वाद। कोई किसी की न सुन रहा है, न देख रहा है—सब अपने-अपने मन की मौज में—

> रहीला त रन-बन लाइला मकोय
> सात हुँड़ार क चरवन होय;
> बाघ मारि मारि करी ला इयारी
> सिंह जोहत मोर पाकल दाढ़ी!

समझा था, फुलवारी का कैम्प जेल ही जेल-जीवन का अन्तिम अध्याय होगा। वहाँ की बेहद भीड़भाड़ और हंगामें से जी घबराता भी बहुत था और जेल की सजा काटते-काटते मन थक भी चला था। फुलवारी में एक सुविधा थी—खुला आकाश देखने को मिलता था और जेल के भीतर से रेलगाड़ियों का आना-जाना भी। रात को प्रकाश से जगमगाती ये रेलगाड़ियाँ वैसी ही सुहावनी लगती थीं, जैसे सजी हुई बहुओं का अपनी ससुराल का जाना। कौन-कौन लोग जा रहे होंगे, कितने अपने प्यारे-दुलारे भी होंगे—परन्तु किसको किसकी खबर है इस भाग-दौड़वाली दुनियाँ में। कभी-कभी ऐसा सोचते-सोचते मन एकदम उदास हो जाया करता और आँखें भर-भर आतीं। माँ की सुध भी बेचैन कर देती। लगता, प्रवाह में बहा जा रहा हूँ—किनारे आना चाहता हूँ, पर आ नहीं सकता। प्रवाह बहुत ही प्रखर है, भुजाओं से इसे चीर कर किनारे आ निकलने की शक्ति नहीं-सी है। नवीन जी की वह पंक्ति याद आती—'ठहर, तनिक ठहर, आह ओ प्रवाह मेरे।' परन्तु, यह प्रवाह लाख मनुहारों पर भी जैसे ठहरना जानता ही नहीं था। कितना निर्मम, कितना दुरत्यय!

एक ही प्रकार की दिनचर्या सुबह उठने से रात को सोने तक मन को उबा रही थी। गीता में कुछ रस नहीं मिल रहा था, रामायण शुष्क हो चली थी। माला पर अंगुलियाँ चलें, इसके पहले ही आँखों से आँसुओं की झर-झर वर्षा चलने लगती। क्या हो गया है मन को? इतनी कदर्यता क्यों आ गई है? कार्पण्य से सारा शौर्य-तेज उपहत क्यों होता जा रहा है? जेल में नेताओं की तिकड़मबाजी और छल-छद्मों को देखकर मन तू इतना कातर क्यों हो रहा है? ठीक आशा के विपरीत इनका आचरण क्या मानव-स्वभाव की चिरन्तन दुर्बलता का बोधक नहीं है प्यारे!

मन को मैं नाना प्रकार से समझाऊँ, परन्तु वह समझने को तैयार नहीं। क्या किया जाय, क्या न किया जाय? कई बार मन में प्रश्न उठता, ऐसे खुदगर्ज नेताओं से देश का क्या भला होगा? जहाँ क्रिया और वाणी में एकता नहीं, कहते कुछ और करते ठीक उसके विपरीत हैं, ऐसे लोगों से गान्धी का अहिंसात्मक आन्दोलन अपनी पवित्रता कैसे अक्षुण्ण रख सकेगा? जितना भी मन को समझाऊँ, बहलाऊँ, वह समझने और बहलने से एकदम इनकार कर दे। बड़ी दुविधा है। तो क्या आत्म-हत्या कर लूँ, विष खा लूँ, गला घोट लूँ? सो भी तो इस मेले में सम्भव नहीं। इस अवसाद का कोई ओर-छोर भी है?

मेरे एक बुजुर्ग मित्र एवं शुभचिन्तक कई दिनों से मेरी इस मन-स्थिति को भाँप रहे थे, परन्तु मैं इतने गहरे पानी में उतर गया था कि वहाँ तक आने में उन्हें डर लग रहा था कि शायद मुझे बचाने में वे स्वयं न गोता खा जायें। एक दिन अन्यमनस्क भाव से मैं नल पर नहा रहा था कि वे आये और मुस्कराते हुए गीता का एक श्लोक बोल गये—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

इस श्लोक को सौ नहीं, हजारों बार मैं पढ़ चुका हूँ—प्रायः गीतापाठ में यह श्लोक आता ही है—हर तीसरे-चौथे दिन। परन्तु, इसके भाव पर, अर्थ पर मैं कहाँ रुका हूँ। पढ़ गया हूँ, जैसे प्रायः पढ़ा जाता है, पाठ किया जाता है। अर्थ पर ठहरने का अभी तक अवसर ही कहाँ आया था? आज उनके मुख से यह श्लोक सुनकर ऐसा लगा, जैसे बिजली का करेंट छू गया है—और इस श्लोक का एक-एक अक्षर विद्युत्-प्रकाश से जगमग-जगमग मेरे प्राणों को, बुद्धि को, अन्तरात्मा को उद्बुद्ध कर रहा है और कोई सब से 'अपना' मेरे कन्धों पर हाथ रखकर समझा रहा है—'भैया, जी छोटा मत कर, ऊपर देख, यह हँसता प्रकाश, यह झिलमिल ज्योति। अरे, तू स्वयं अपना मित्र है और स्वयं अपना शत्रु है। मन छोटा करके

तू स्वयं अपना शत्रु बन रहा है। उठ माई उठ, मैं तो सदैव तुम्हारे साथ हूँ। संसार के सभी अपने तुम्हें छोड़ दें, परन्तु मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जाऊँगा? अरे भैया, तू मेरे लिए प्राणों से भी अधिक प्यारा और दुलारा है—जाग माधव, जाग। किस मोह, किस ममता में पड़कर अवसाद का, आत्मप्रपीड़न का शिकार हो रहा है? मैं जैसे अनादि निद्रा से जग पड़ा। मेरे लिए वह सन्ध्या सर्वथा 'प्रबोधिनी' या 'देवोत्थान' की सन्ध्या थी।

परन्तु जेल जीवन का अन्तिम अध्याय आनेवाला था अभी। फुलवारी जेल से छूटने पर कुछ 'विश्राम' की आवश्यकता अनुभव कर रहा था, कहीं सर्वथा एकान्त-वास, गंगास्नान, मौनावलम्बन, स्वाध्याय, और हरिभजन। परन्तु, 'भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च वैभवम्।' किस्मत घसीट ले गई प्रयाग के चाँद-कार्यालय में—'चाँद' और 'भविष्य' के सम्पादक के रूप में, २८ एडमान्स्टन रोड, इलाहाबाद और क्या तिलिस्म कि 'भविष्य' में छपे प्रथम सम्पादकीय—'गोलमेज का जनाजा' पर माधवजी पुनः इलाहाबाद के मलाका जेल में—

> तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिले सहाय।
> आपु न आवै ताहि पर ताहि तहाँ ले जाय॥

परन्तु, अपना वश भी क्या था? 'अनइच्छित आवै बरियाई।' निश्चय ही, अपना मन जेल-जीवन से थक गया था, चूर-चूर। अब तो उधर ताकने का भी मन नहीं कर रहा था, परन्तु अपना मन करने न करने से क्या होता है? होता है वही, जो मंजूरे खुदा होता है। पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट लगभग पचास पुलिस जवानों को लेकर आफिस घेरे हुए है—मुझे आज्ञा होती है कि मैं शीघ्र पाँच मिनट में तैयार हो जाऊँ 'बड़े घर' के लिए। हे राम! यह बला मेरे पीछे-पीछे बिहार से यहाँ तक पीछा करती कैसे आ गई! परन्तु—

> लाई हयात आये, कजा ले चली चले।
> अपनी खुशी न आये, ना अपनी खुशी चले॥

यों तो, यह सारा जीवन ही अवारागर्दी का एक अखण्ड सूत्र है, पर वे तीन साल इसके मूल प्राणस्वरूप हैं, जहाँ जिन्दगी की नाव अपनी मस्ती में मौजों पर बही जा रही थी—कोई उसका ठौर-ठिकाना न था, न केवट, न पतवार, न लक्ष्य की निश्चिन्तता। बस बही जा रही है, बही जा रही है, न कूल, न किनारा और न किनारे पर पहुँचने की कामना। जीवन का इतना प्रखर प्रवाह कि सोचने-समझने का समय ही नहीं। थोड़ा सुसता कर फिर चलने का लालच नहीं—बस चला जा रहा हूँ, जा रहा हूँ। कहूँ, तो बहा जा रहा हूँ—बस, बहा जा रहा हूँ!

न है कुछ तमन्ना न कुछ जुस्तजू है,
कि वहदत में साकी न सागर न बू है!
मिली दिल को आँखें जभी मारफत की,
जिधर देखता हूँ सनम रू-बरू है।
गुलिस्ताँ में जाकर हर इक गुल को देखा,
तो मेरी ही रंगत औं मेरी ही बू है।
मेरा तेरा उट्ठा हुए एक ही हम,
रही कुछ न हसरत न कुछ आरज़ू है।

इलाहाबाद का मलाका जेल अपनी भयंकर कठोरता एवं नारकीय यन्त्रणाओं के लिए सदा याद आता रहेगा। कहना चाहिए, जेल-जीवन का वास्तविक अनुभव तो इलाहाबाद के मलाका जेल में ही मिला। बक्सर के सेंट्रल जेल में 'गवर्नमेण्ट होटल' का आनन्द था—लंच, डिनर, टी, टोस्ट, मक्खन, छोटी हाजिरी, बड़ी हाजिरी, साबुन, तेल, तौलिया, कंघा, शीशा—नियामतें सहज ही उपलब्ध। ठीक दामाद की तरह खातिरदारी—बात-बात में एक-एक आवश्यकता की पूर्ति। आरा का जिला जेल सर्वथा पारिवारिक परिवेश की सुषमा एवं माधुरी लिये हुए—स्वजनों-परिजनों की आत्मीयता के रस से लबालब। फुलवारी का कैम्प जेल मेले के आनन्द से भरपूर, पाँच-छह हजार बागी सिरफिरे जीवजन्तु कँटीले तारों से घेर कर एकत्र कर दिये गये—एक नुमायश, एक हंगामा, शोर-शराबा, रात-दिन का सोनपुर मेले का अनुभव—जहाँ कुछ भी पढ़ना-लिखना, सोचना-विचारना कतई नामुमकिन। बस, मेले में मेले का मजा लेते रहिए—अन्धेरनगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

परन्तु, इलाहाबाद के मलाका जेल ने सिखला दिया कि जेल-जीवन का 'रिगर' और 'टार्चर' क्या होता है। कुल डेढ़-दो सौ कैदी—सब-के-सब 'क्रिमिनल्स'। चोरी, डाका, हत्या, राहजनी, नोट बनाने आदि के जुर्म के सजावार। उसी खल-मण्डली में एक किनारे माधवजी की भी सीट। 'सीट' क्या, मिट्टी से पुता एक पतला-सा ईंटे का चबूतरा, जिसपर सोने से सिर को आराम, तो पैर को नहीं, पैर को आराम, तो सिर लटक जाय, और करवट बदलें, तो धम से जमीन पर चारों खाने चित्त। बिछाने के लिए मूँज की एक चटाई। उस पर एक खुरदरा कम्बल। ये कम्बल भी न जाने किस जीव के बालों से बने हुए—चमचम शरीर में चुभता रहे। 'पिन प्रिक' ही समझिए। और, वे ही पुराने परिचित लोहे के दो तसले—एक छोटे आकार का, एक कुछ बड़ा। सारा-का-सारा वातावरण भयावना, वीभत्स, घिनौना। वार्ड में लोहे के काले-काले सीखचे, सीट कोलतार से पुती हुई, हर सीट

पर ऊपर तक गहरे काले रंग की पुताई, उसके ऊपर काले अंकों में सीट-नम्बर। वहाँ साथ में कोई नहीं, जिससे बातें की जायें। शाम को गिनती होकर आठ बजे हम लोग बन्द हो जायें, सवेरे सात बजे ताले खुलें। पहले ही दिन मुझे मूँज की रस्सी बटने को मिली—कम-से-कम प्रति दिन ३०० गज होना ही चाहिए। मूँज को पहले थूरना पड़ता, फिर पानी में भिगोकर बटना होता। पाट वटने में सुगम होता है—मूँज बड़ी रुखड़ी होती है, फलतः हाथों में फफोले निकल आये। फिर भी, बटता जाऊँ तो फूट-फूटकर हाथों से खून बहने लगे। शाम होते-होते तक ३०० गज पूरा कर दें। भोजन में भी दण्ड की भावना। भात का एक लोंदा मिलता—जिसमें मरे हुए कीड़ों की राशि-राशि होती। दाल के स्थान में गरम नमकीन पानी, मोथे को उबालकर साग और उसपर इमली की एक पसर चटनी। शाम को तीन रोटियाँ मिलतीं, जिनमें सुरखी-बालू पड़ी होती—दाँत तले आने पर कर्र-कर्र। रोंगटे खड़े हो जाते। हे भगवन्! किस अपराध का दण्ड भोग रहा हूँ! हाँ, इस बार १२० ए—'राजविद्रोह' के अपराध में पकड़ा गया हूँ—सरकार की नजरों में घोर भयंकर खूँखार जन्तु हूँ, खूब दण्ड देकर रहस्य उगलवा लेना चाहती है सरकार। दिल्ली-षड्यन्त्र में अज्ञेय और विद्याभूषण वहाँ जेल में थे, प्रयाग मे मैं। पत्राचार उनके वकील आसफ अली के मार्फत हुआ करता। वही आसफ अली, अरुणा के पति, जो बाद में उड़ीसा के राज्यपाल हुए—वहीं उनका देहान्त भी हो गया।

मलाका जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट एक युवक जल्लाद अँगरेज था—डायर का चचा। कैदियों को दुःख देने में, उन्हें अपमानित करने में उसे खूब मजा आता था। हमारी हथेलियों से फचफच खून निकलते देख वह आनन्द से नाच उठता और बोलता—'यस, दिस इज जेल, दिस इज दी ज्वाय ऑफ जेल लाइफ।' हाथ मे हण्टर लेकर मुआयने को निकलता।

जेल में 'फायल लगाना' एक विशिष्ट क्रिया होती है। अपने कम्बल, तसले आदि को सलीके से रखकर जब 'साहब' आये, तब खड़े हो जोर से 'सलाम' बजाइए और दाँत निपोरकर खड़े रहिए। यह सवेरे आठ बजे हुआ करता। यह मेरे लिए असह्य रूप में अपमानजनक था। इससे बचने के लिए मैं जल्दी-जल्दी नहाकर अपनी सीट पर गीता लेकर बैठ जाता और पूरी गीता—प्रथम अध्याय से अट्ठारहवें अध्याय तक जोर-जोर से पाठ करना शुरू कर देता और गीता समाप्त हो जाती, तो दस माला गायत्री। इसमें लगभग तीन घंटे निकल जाते। सुपरिण्टेण्डेण्ट मेरा 'छल' समझता था, परन्तु धर्म के मामले में वह विवश था। दाँत पीसकर बूट कड़कड़ाते, हण्टर पटकते चला जाता। एक दिन उसने कार्यालय में बुलाकर, हण्टर निकालकर मुझसे

जल्लादी शैली में पूछा—'हाउ लौंग, हाउ लौंग दिस ड्रिंक यू ब्लडी फेलो।' इच्छा तो हुई कि उस साले पर चढ बैठूँ और अच्छी तरह मरम्मत कर दूँ। और, भोजपुरी शैली मे उसका खूब 'सत्कार' कर दूँ, लेकिन गान्धी बाबा की फौज का सिपाही होने के कारण सब कुछ सहना पडता था। मैंने निर्भीक शब्दों मे उत्तर दिया—'ऐज लौंग ऐज लाइफ।' वह दैतानियत-भरी मुस्कान मुस्काता रहा और मुझे पुनः वापस वार्ड मे भेज दिया।

इस निदारुण नारकीय जीवन मे एक व्यक्ति ऐसा मिला, जिसके कारण मलाका जेल मे कुछ राहत मिली। वह था एक सेठ का ईसाई ड्राइवर, जो सेठ की लडकी को भगा ले जाने के जुर्म मे गिरफ्तार होकर आ गया था और मेरे ही वार्ड मे था। वह अधगोरा ईसाई था—अँगरेज बाप और हिन्दुस्तानी धोबिन माँ की औलाद। जब चाँदनी खिलती, आँगन में नीम के वृक्षों में फूल गमगमाने लगते, तब वह ईसाई युवक 'ओ माइ जुलिया, ओ माइ जुलिया' कहकर रोने-गाने-नाचने लगता, दोनो हाथ फैलाकर आलिंगन की मुद्रा बनाता, अपने-आप अपनी भुजाओं का चुम्बन लेने लगता और 'ओ माइ जुलिया, ओ माइ जुलिया' कहते-कहते बेहोश होकर गिर पड़ता। लगातार घंटों सिसकता रहता। अर्द्धविक्षिप्त की अवस्था थी। कभी-कभी जब 'स्वस्थ' होता, तब अपनी 'जुलिया' के रूप-सौन्दर्य का कवित्वपूर्ण वर्णन करने लगता, जिसमे शैली कीट्स और बायरन की बहुत सारी पंक्तियाँ उद्धृत कर जाता। खूबसूरत नवजवान, बड़े-बडे कवियों के-से बाल, मसें अभी भीनने पर आई थीं। उस मण्डली में मैं ही उसका एकमात्र सहानुभूतिशील सखा था—मेरी उसकी खूब छनती थी। परन्तु, कभी-कभी जब प्रेम का आक्रमण उसपर होता, तब वह दीवार पर सर पटकने लगता—मैं उसे पकड़ लेता, तो दोनों हथेलियों पर सर रख कर सुबुक-सुबुक कर रोने लगता। वह कहता था, उसने अपनी जुलिया का बस एक बार चुम्बन लिया है अपने आलिंगन पाश में बाँधकर। फिर 'जुलिया' तो स्वयं उसके साथ भाग गई थी—दोनों ही लखनऊ मे पकडे गये थे, फिर मियाँ मजनूँ जेल की हवा खाने लगे...।

कुछ हो, मेरा मन एक दिन भी इलाहाबाद के मलाका जेल मे लगने से रहा। स्वामी रामतीर्थ का एक गीत मुझे याद था, अकेले में उसे गाकर मन को समझाया करता था—

जैसी तेरी खुशी हो, सब नाच तू नचा ले,
सब छान-बीन कर ले, हर तौर दिल जमा ले।
राजी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रजा है,
याँ यूँ भी वाह्वा है, औ यूँ भी वाह्वा है।

लगभग छह महीने का यह जेल-जीवन छह वर्षों के जेल-जीवन से भी अधिक दारुण, कष्टकर हुआ और इस बीच लगभग बयालीस पौंड वजन मैं खो चुका था; क्योंकि खाने को जो कुछ भी मिलता था, वह खाया जा नहीं सकता था। केवल भिगोये हुए चने और नमक पर ही लगभग सारा समय काटना पड़ा और ३०० गज प्रति-दिन मूंज की रस्सियों के 'ठिले' आजतक हाथों की हथेलियों पर 'स्मृति के दाग' के रूप में बने ही हुए हैं। छोटे जेल से छूटकर बड़े जेल में आया। अभी अपना देश पराधीन ही था—जेल से भी बदतर गुलामों का देश।

अध्याय ३

सम्पादकीय जीवन

मनुष्य कहाँ जाना चाहता है, परन्तु परिस्थितियाँ, अदृश्य शक्ति, प्रारब्ध या संयोग जो कुछ भी कह लें, उसे कहाँ-कहाँ बहा ले जाते हैं। ऐसा लगता है, जैसे मनुष्य अपने जीवन-निर्माण में सर्वथा परवश है। इस परवशता पर आश्चर्य भी होता है और खेद भी। आश्चर्य इसलिए कि कहाँ जाना था, कहाँ पहुँच गये; और खेद इसलिए कि क्या-से-क्या बन गये। होश सँभालते ही, अक्षरारम्भ के साथ-ही-साथ 'प्रताप' से परिचय हुआ और यह परिचय अपने-आप गाढ़ और गाढ़तर होता गया। 'प्रताप' के पहुँचने का दिन बड़ी प्रतीक्षा में बीतता और बड़ी उत्सुकता से उसकी राह देखी जाती। ऐसा लगता कि वह एक किसी दूसरे लोक से इस पृथ्वी पर उतरकर मेरे घर तक पहुँचता है। और, उसी सिलसिले में गणेशशंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्रीकृष्णदत्त पालीवाल जैसे व्यक्तियों का परिचय भी मिला। जीवन में 'प्रताप' के योग्य बन सकूँ, एक बड़ी ही उत्कट लालसा मन में हलचल मचाने लगी; और सच बात तो यह है कि 'प्रताप' के योग्य बनने के लिए ही मैंने अपनी सारी जीवनचर्या बदल दी, वेष-भूषा बदल दी, राग-विराग बदल दिया और मन-ही-मन उसी की तैयारी में सारी शिक्षा-दीक्षा होने लगी। गणेशजी से पत्र-व्यवहार चलने लगा और उन पत्रों में उनके आश्वासन-भरे शब्द बराबर प्रेरणा देते रहे कि पढ लिखकर मुझे 'प्रताप' में जाना और गणेशजी का सहकारी बनना है। हिन्दू-विश्वविद्यालय में छह वर्ष का जीवन नितान्तत: 'प्रताप' की तैयारी के लिए था, सन् १९३१ ई० में, कराची काँगरेस में, गणेशजी के कहने पर ही, इसलिए मैं सम्मिलित हुआ कि वहीं हम दोनों मिलेंगे और उनके साथ ही कानपुर लौटकर मैं 'प्रताप' में उनके सहकारी के रूप में काम करने लग जाऊँगा।

परन्तु, दैवयोग से ठीक काँगरेस-अधिवेशन के दो-एक दिन पहले ही गणेशजी कानपुर में एक साम्प्रदायिक दंगे में स्वेच्छया और सहर्ष अपने प्राणों की बलि देकर अमर शहीद बन गये और इसका पता मुझे तब चला, जब मैं कराची पहुँच चुका था। मेरे लिए यह विचारणीय विषय हो गया था; कि अब क्या करना चाहिए; क्योंकि गणेशजी की अनुपस्थिति में 'प्रताप' में जाने की सारी लालसा जहाँ-की-तहाँ बुझ गई। लौटते समय हरिद्वार से 'नवीन' जी को मैंने एक पत्र लिखा और परिस्थिति जाननी चाही; परन्तु उत्तर मिलने के पूर्व ही मैं कानपुर आकर 'नवीनजी' और श्रीदेवव्रत शास्त्री, जो उन दिनों 'प्रताप' के संयुक्त सम्पादक थे, से मिला और वहाँ का सारा वातावरण उदास, घुटा-घुटा, क्लान्त और खिन्न पाया, जो गणेशजी के

अभाव मे मर्यया स्वाभाविक ही था। 'नवीन' जी का वह निराला वेप आज भी मुझे ज्यों-का-त्यों याद है। आधी जाँघिया और बनियाइन पहने वे कार्यालय मे काम कर रहे थे। जेल में इस वेप-भूपा के हम आदी थे, परन्तु वाहर यह वेप बड़ा ही सुहावना और आकर्पक लगा। वहाँ जो कुछ देखा और सुना, उससे 'प्रताप' में काम करने की लालसा अव उतनी वलवती न रही। परन्तु, सम्पादक बनने की इच्छा अभी ज्यों-की-त्यो मेरे अन्दर हलचल मचाये हुए थी। कांगरेस के आन्दोलन मे जेल जाते-जाते जी थक चुका था और लेखनी को अव अधिक विश्राम नही दिया जा सकता था। निदान पं० नन्दकिशोर तिवारी की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से प्रयाग से निकलनेवाले साप्ताहिक 'भविष्य' और मासिक 'चाँद' की सम्पादकी मिली और उसमे मैं जी-जान से जुट गया। इन दोनों पत्रों के मालिक श्रीरामरख सिंह सहगल वडे ही प्रतिभासम्पन्न, व्युत्पन्नमति व्यक्ति थे। संगठन और संचालन की अपूर्व क्षमता तथा शासन की विलक्षण योग्यता उनमें थी। सम्पादकीय विभाग में हम कई आदमी थे—मुशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव, नन्दकिशोर तिवारी, देवीदत्त पाण्डेय और मैं। उन दिनों 'काकोरी' और 'दिल्ली' के पड्यन्त्र के मुकदमे चल रहे थे और इन सनसनीखेज मुकदमों के सविस्तर विवरण 'भविप्य' में छपते थे। 'भविप्य' 'योगी' आकार का चालीस पृष्ठो का साप्ताहिक निकलता था और उसकी छह हजार प्रतियाँ वात-की-वात मे विक जाती थी। इसमें मुख्य दो वातें थी—सहगलजी की कुशल व्यवस्था और सम्पादकों का अटूट परिश्रम। सहगलजी का सम्पर्क विप्लववादियो से भी बड़ा घनिष्ठ था। चन्द्रशेखर 'आजाद' प्राय: उनके पास आया करते थे। केवल एक वार मैंने 'आजाद' को प्रयाग में देखा था। २८, एडमान्स्टन रोड पर 'चन्द्रलोक' का वह जगमगाता हुआ कार्यालय आज भी मेरी आँखों के सामने ज्यों-का-त्यों है। सहगलजी बड़ी सूझ-बूझ के कर्मठ कल्पनाशील और व्यावहारिक पुरुष थे। 'योग: कर्मसु कौशलम' की वे जीवन्त व्याख्या थे। वे पढे-लिखे तो कम थे, परन्तु अनुभवी खूब थे। दस बजे दिन से दो बजे रात तक अक्लान्त भाव से जमकर काम करते थे। दो बजे रात को वे सोने जाते और सवेरे आठ बजे 'बाथरूम' से सजधज कर बाहर निकलते थे। उनका 'बाथरूम' क्या था, एक छोटा-मोटा दफ्तर ही था और वे वहीं उस दिन के आये हुए सभी दैनिक पत्र—अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू के पढ़ जाते थे और लाल, नीली, हरी पेन्सिलों से चिह्न लगा देते थे। हम लोगों के कार्यालय पहुँचते-पहुँचते उन तमाम पत्रों की कटिंग हमलोगों के पास आ जाती थी और सम्पादन का कार्य घड़ल्ले से शुरू हो जाता था। सहगलजी स्वयं विश्राम करना जानते ही नहीं थे, इसलिए वे यह भी नही चाहते थे कि उनका कोई कर्मचारी कामचोर हो। ठीक ढंग से, वड़े ही करीने से, सलीके और सफाई से

एक-एक काम को पूरी विधि और योग्यता के साथ सम्पादन करना ही सहगलजी के जीवन का लक्ष्य था और यह कहा जा सकता है कि वे अपनी लक्ष्यसिद्धि में बहुत अंशों में सफल रहे। सफेद खादी की कमीज, पाजामा और चप्पल यही उनका बारहों महीने का लिवास था। बोलते समय वे कुछ-कुछ हकलाते थे। लिखने में उनके अक्षर सुन्दर नहीं होते थे, परन्तु बहुत ही तेज वे लिख जाते थे। 'भविष्य' और 'चाँद' में एक अक्षर भी ऐसा नहीं छपता, जिसे सहगलजी स्वयं अपनी आँखों से नहीं देख जाते।

चाँद-कार्यालय प्रयाग के साहित्यिकों का एक खासा अड्डा ही था। यहीं 'बिस्मिल' इलाहाबादी, महादेवी वर्मा, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, पं० वेंकटेशनारायण तिवारी, पं० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' जैसे कई साहित्यकार आते थे। साहित्यिकों का स्वागत-सत्कार भी 'चन्द्रलोक' में खूब होता था। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे साहित्यिकों और विप्लववादियों से सहगलजी का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। कार्यालय की सज-धज, फर्नीचर, परदे, चपरासियों की ठाटबाट, बँगले की सजावट, सब कुछ में सहगलजी की कल्पना और सौन्दर्य के प्रति सजगता स्पष्ट थी और उनके व्यक्तित्व की छाप वहाँ जर्रे-जर्रे पर थी। मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव बड़े ही दिलचस्प व्यक्ति थे। कान से कुछ ऊँचे सुनते थे, परन्तु हँसोड़ इतने कि उनके साथ समय बिताना स्वास्थ्य बनाना था। वे स्वयं ऐसी मीठी चुटकियाँ लेते कि सुननेवाला हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाय। उनके विनोद में व्यंग्य का भाव अधिक होता, परन्तु वह व्यंग्य भी 'नारदमोह' की तरह उपदेश से रिक्त नहीं होता ? वे प्राय: डिस्ट्रिक्ट कलक्टर को 'जिला बटोरक' कहा करते थे। ऐसी ही उनकी बनी-बनाई शब्दावली थी, जिसका खुलकर वे 'भविष्य' में प्रयोग करते थे। पं० देवीदत्तजी 'काकोरी' और 'दिल्ली' के षड्यन्त्रों का बड़ी ही ओजस्वी और प्रभावशाली शैली में सविशेष विवरण लिखते थे। मेरे जिम्मे था सम्पादकीय। मैं प्रायः 'प्रताप' की शैली से इतना अधिक प्रभावित था और मेरे राष्ट्रीय विचार इतने अधिक दृढ़ थे कि मैं एक इंच भी उसमें हटना नहीं चाहता था। सहगलजी सनसनीखेज बातों के ऊपर बहुत पड़े रहते थे और ऐसी ऐसी खबरें न जाने कहाँ से उड़ा लाया करते थे, जिन्हें पढ़कर और सुनकर आदमी का खून खौल उठे, नसें झनझना जायँ। समाचार-संकलन में सहगलजी बड़ी रुचि रखते थे और इसके लिए वे देश-विदेश के प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ बड़े ही मनोयोग से पढ़ते थे। सहगलजी की धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती सहगल और उनके छोटे भाई श्रीनन्दगोपालसिंह सहगल भी प्रेस की व्यवस्था में उनका खूब हाथ बटाते थे और नन्दगोपालजी तो पूरे व्यवस्थापक ही थे। सहगलजी और श्रीनन्दगोपालजी के कार्यालयवाले कमरे इतने सजे होते

कि किसी को भी उनमें प्रवेश करते डर लगता था। एक बार की बात है कि शाहाबाद के प्रमुख नेता श्रीरामायण प्रसाद मुझसे मिलने के लिए आये, पुरजा भेजा; परन्तु सहगलजी ने उन्हें मिलने की इजाजत न दी। मिलने-जुलने के मामले में कार्यालय के समय में सहगलजी बड़े ही कठोर व्यक्ति थे और उनसे भी कठोर थीं उनकी धर्मपत्नी विद्यावती सहगल। 'चन्द्रलोक' के एक कोने में पं० नन्दकिशोर तिवारी सपरिवार रहते थे और वहीं मैं भी उनके साथ रहता था। सब कुछ होते हुए भी सारा-का-सारा वातावरण मुझे 'तिलस्मी', परन्तु दम घोटनेवाला लगता था और कई बार यह इच्छा होती थी, किसी प्रकार यहाँ से निकल भागूँ। संयोग ऐसा कि 'भविष्य' में एक सम्पादकीय छपा, जिसका शीर्षक था 'गोलमेज का जनाजा' इसी लेख पर मैं गिरफ्तार कर लिया गया और इलाहाबाद के 'मलाका जेल' में रख दिया गया। इस लेख में बहुत कुछ सनसनीखेज बेसिर-पैर की बातें छप गई थीं। उन दिनों गोलमेज-कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए हमारे प्रमुख नेता लन्दन गये थे— गान्धीजी, मालवीयजी, सरोजिनी नायडू इत्यादि-इत्यादि। अभी गोलमेज का जलसा चल ही रहा था कि यहाँ 'भविष्य' में छप गया कि गोलमेज असफल हो गया और सभी प्रमुख नेताओं को एक जहाज में बैठाकर समुद्र में डुबा दिया जायगा। लेख लिखा था स्वयं सहगलजी ने, परन्तु चूँकि मेरा नाम सम्पादक के स्थान पर छपा था, इसलिए पकड़ा गया मैं और मुकदमा चला मेरे ऊपर। जब सहगलजी से पूछा, ऐसी निराधार खबरों का सूत्र क्या है, तो उन्होंने कहा—'सर तेजबहादुर सप्रू की लड़की गवर्नर से मिलने गई थी और गवर्नर ने ही ये सारी बातें बतलाई हैं।' इसपर मैंने कहा, यदि आवश्यकता पड़ी, तो क्या सर सप्रू की लड़की गवाही देने के लिए कचहरी में आयगी? सहगलजी ने टालते हुए कहा कि आप अभी इस क्षेत्र में नये हैं, आपको पता नहीं कि ऐसे ही समाचारों से पत्र की बिक्री बढ़ती है और दूर-दूर तक उसकी ख्याति फैलती है।

मैं सचमुच इस क्षेत्र में एकदम नया रंगरूट था और इसीलिए मन मसोसकर रह गया। जब मेरे ऊपर केस चला, तब यह प्रश्न विचारणीय बन गया कि क्या मैं सच-सच कह दूँ कि लेख मेरा लिखा हुआ नहीं है या नैतिक दायित्व के कारण सारा दोष अपने ऊपर ओढ लूँ। एक भयंकर द्वन्द्व मेरे मन में मचा हुआ था। सात हजार के निजी मुचलके पर मेरी जमानत हुई थी इस शर्त पर कि उस बीच यदि मैं कुछ भी सरकार के विरुद्ध लिखूँगा या बोलूँगा, तो इतना जुरमाना मुझे चुका देना होगा। मैं बड़े ही असमंजस की स्थिति में था। क्या करूँ, क्या न करूँ, समझ में नहीं आ रहा था। सुतराम्, प्रयाग के प्रमुख राजनीतिक व्यक्तियों से जब मैंने राय ली, उन सभी ने एक स्वर से कहा कि मुझे चुपचाप नैतिक दायित्व स्वीकार करते हुए सम्पादक के

समय है, इससे कोई भी आदमी सरकार के विरोध में न कुछ लिखे और न बोले। इसलिए, मैं अपने सेनापति के आदेश के प्रति प्रतिज्ञावद्ध हूँ। 'भविष्य' के सम्पादकीय स्तम्भ में 'गोलमेज का जनाजा' शीर्षक जो लेख छपा है, वह मेरा लिखा हुआ नहीं है, न मैं उसके विचारों से ही रत्ती भर भी सहमत हूँ। फिर भी, चूँकि मेरा नाम सम्पादक के स्थान पर छपा है,इसलिए मैं इस लेख के नैतिक दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता और सरकार इस परिस्थिति में मुझे जो भी दण्ड देगी, उसे मैं सहर्ष झेल लूँगा।"

यह बयान कुल आठ-दस वाक्यों का नपा-तुला था और मुझे स्मरण है कि उसे बलदेव बाबू ने राजेन्द्र बाबू के डिक्टेशन पर लिखा था, और ब्रजकिशोर बाबू की सहमति उसमे प्राप्त की गई थी। अन्त मे, राजेन्द्र बाबू ने यह कहा था कि 'सच बोलकर यदि फाँसी पर चढ जाओगे, तो हमलोग यहाँ दिवाली मनायेंगे, और झूठ बोलकर यदि बच गये, तो तुम्हारा मुँह भी नही देखेंगे।' राजेन्द्र बाबू की वह बात मैं जीवन मे कभी भूल नही सकूँगा।

यह बयान इलाहाबाद की कचहरी में दाखिल करना था कि एक हंगामा मच गया। आर० एफ्० मूडी, जो उन दिनो इलाहाबाद का कलक्टर था और पाकिस्तान बनने पर वहाँ का पहला गवर्नर बना, बडा ही जल्लाद आदमी था। उसने अपने 'चैम्बर' में मुझे बुलाया और पिस्तौल निकालकर मेरी ओर तानते हुए कहा कि साफ-साफ बतला दो कि यह लेख किसका लिखा हुआ है। मैंने बड़ी निर्भीकता से कहा कि मैं जानता तो हूँ कि किसका लिखा हुआ है, परन्तु बतलाऊँगा नही। इतना ही बतला सकूँगा कि वह लेख मेरा लिखा हुआ नही है। शहादत मे बिहार-प्रान्त से कई लोग मेरे साथ गये, परन्तु मेरे पास साधन कहाँ थे कि अकेला एक मेरे जैसा अदना आदमी इलाहाबाद की इतनी बड़ी सस्था के विरुद्ध अकेले लड़ सके। संयोग से ईश्वर की कृपा ही कहिए, हाइकोर्ट के दो एडवोकेट, पं० कन्हैयालाल मिश्र और पं० अम्बिकाप्रसाद पाण्डेय ने अपनी अमूल्य सहायता बिना किसी फीस के अर्पित की। हमलोग उन्ही के घर ठहरते, उन्ही की गाड़ी में कचहरी जाते और बड़े आराम से बिना खर्च छह महीने तक यह मुकदमा लड़ते रहे। अन्ततः सत्य की विजय हुई, मैं निर्दोष करार देकर छोड़ दिया गया और यह केस सहगलजी पर चलने लगा, जिसमे ढाई वर्ष की सजा हुई और सात हजार रुपये जुरमाने देने पड़े।

उतरा तो था धारा में तैरने, परन्तु लगा बहने। यह बहाव धारा की तेजी के साथ इतना प्रखर और प्रबल था कि मैं अपने को सँभाल न सका और बहकर किस किनारे लगूँगा, या न भी लगूँ, इसका भी होश न था। इलाहाबाद के मलाका जेल में छह महीने का जीवन घोर कष्ट और यातनाओं का जीवन था, चूँकि मैं १२४

ए—राजविद्रोह के जुर्म में पकड़ा गया था और मुझपर इलजाम था कि मैं ब्रिटिश शासन का तख्त उलटने की कोशिश कर रहा हूँ, इसलिए भी मुझपर बड़ी कड़ी निगरानी रखी जा रही थी। पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गई थीं कि कहीं जेल से निकल न भागूँ। इतना ही नहीं, भोजन में भी जो सामान मिलता था, वह मनुष्य के खाने लायक नहीं था। भात में मरे हुए सफेद कीड़े, रोटी में बुकी हुई सुरखी, भोयें की उबाली हुई सब्जी और इमली की चटनी, यही सामान्यतः भोजन था। उस समय जेल में राजनीतिक बन्दियों में मैं अकेला ही था, शेष सभी डकैत या खून के सजावार या ऐसी ही दूसरी लम्बी सजा के लोग थे। परिणाम यह हुआ कि छह महीने के अन्दर ही मेरा स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो गया और करीब बयालीस पौंड वजन घट गया। परन्तु केस चल रहा था और कचहरी आने-जाने की शगल में दिन अच्छे निकल रहे थे। कचहरी की हाजत में कुछ मित्र कई समाचार पत्र पढ़ने को दे दिया करते, जिसमें यहाँ से वहाँतक मेरे या मेरे केस के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चाएँ छपी होतीं।

एक मनोरंजक घटना ज्यों-की-त्यों स्मरण है। हाजत से जब मैं कचहरी में पेश किया जाता था, तब हथकड़ी और बेड़ी के अतिरिक्त कमर में रस्सा भी बँधा होता था। एक बार हाजत के समय ही मुझे शौच की इच्छा हुई और सिपाहियों ने मेरी कमर में बहुत लम्बा रस्सा बांधकर शौचालय में, जो हाजत से कुछ दूर पर था, जाने दिया। शौचालय में चले जाने के बाद, जब मैंने कमरा बन्द कर लिया तो बीच-बीच में भी वे रस्सा इसलिए खींचते रहे कि कहीं मुजरिम खिड़की से भाग तो नहीं गया।

'भविष्य'-केस के दरम्यान मुझे ईश्वरीय कृपा के कई बार साक्षात् दर्शन हुए। राजेन्द्र बाबू का लिखवाया हुआ बयान, हाइकोर्ट के दो प्रमुख वकीलों का बिना फीस सहयोग, कई मित्रों की सक्रिय सहानुभूति। स्मरण रहे कि मैं अकेला प्रयाग की कितनी बड़ी संस्था से जूझ रहा था!

इस बीच की, सहगलजी के सम्बन्ध की दो घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक अत्यन्त क्रूर और दूसरी अत्यन्त करुण।

मैं मुकदमें में फँस चुका था और कहीं कूल-किनारा नहीं दिखलाई पड़ रहा था। ऐसे ही समय मेरे दो मित्रों ने सहगलजी से जाकर पूछा कि आप उनकी क्या सहायता करेंगे? रात के लगभग नौ बजे का समय था। भादों की अँधेरी रात और झमाझम बारिश। सहगलजी ने कहा, उन्हें अभी, इसी क्षण, इस मकान को छोड़ देना होगा। अजब व्यवस्था थी और समझ में नहीं आ रहा था कि २८, एडमान्स्टन रोड को छोड़कर इस अँधेरी रात में, जब बाहर जोरों का पानी बरस रहा है, कहाँ जाया

जाय। परन्तु, धैर्य और साहस ने मेरा सदा साथ दिया है और सामान बाँधकर मैं चुपचाप ताँगे में बैठकर इलाहाबाद स्टेशन की पासवाली धर्मशाला में चला गया और रात वहीं बरामदे में बिताई। साथ ही, सहगलजी की अतिशय करुणा का भी एक उदाहरण मैं जीवन में न भूल सकूँगा। मुकदमा चल रहा था, परन्तु मेरे पास इतना भी पैसा नहीं था कि मैं गवाहों को बिहार से ला सकता। बड़ी परेशानी की हालत में, कचहरी में, अत्यन्त विपन्नावस्था में खिन्न और उदास एक बेंच पर मन मारे बैठा था। अचानक सहगलजी ने मुझे देखा और मेरी स्थिति समझ गये। उन्होंने चट अपनी जेब से १०० रुपये का नोट निकालकर मुझे दिया और ह तब, जब मैं स्वयं उन्हीं के विरुद्ध मुकदमा लड़ रहा था। हठात् मेरी आँखों से आँसू निकल आये और मैंने अत्यन्त कृतज्ञता-भरी दृष्टि से सहगलजी की ओर देखा। उन्होंने उस समय अँगरेजी में एक वाक्य कहा था, जो कभी न भूल सकूँगा। आशय था—'फिक्र छोड़ो! हम खिलाड़ियों की-सी भावना अपनाएँ।'

'भविष्य' के केस से मैं छूट तो जरूर गया; परन्तु अभी धारा के बहाव में ज्यों-का-त्यों था। कहीं कूल-किनारा नहीं मिल रहा था। मलाका जेल ने मेरे स्वास्थ्य को चौपट कर दिया था और छूटने पर पास में इतने पैसे नहीं थे कि मैं टिकट कटाकर घर तक पहुँच सकता। पं० चन्द्रशेखर शास्त्री से टिकट के पैसे लेकर मैं घर आया, परन्तु घर आकर भी घोर किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और पस्ती छाई हुई थी। 'भविष्य' ने चारों ओर मेरा नाम उजागर कर दिया था और लोगों में मेरे प्रति सहज ही एक सहानुभूति का भाव उमड़ आया था।

घर पर एक दिन मैं यों ही उदास और क्लान्त भाव से अपने अतीत की ओर दृष्टि डाले हुए था कि एकाएक पूज्य मालवीयजी महाराज का तार मिला कि 'मुझसे जल्दी मिलो।' दूसरे ही दिन मैं काशी पहुँचा और पूज्य मालवीयजी महाराज के चरणों में उपस्थित हुआ। मालवीयजी महाराज सवेरे टहलने को निकल रहे थे। उन्होंने मुझे अपने साथ ले लिया। रास्ते में ही उन्होंने मुझे बतलाया कि वे एक साप्ताहिक पत्र निकालना चाहते हैं, जिसका सम्पादन-भार मुझपर सौंपना चाहते हैं। एक अँगरेजी-पढ़े-लिखे नवयुवक के लिए, जो एकलव्य की भाँति राजनीति में गणेशशंकर विद्यार्थी का शिष्यत्व ग्रहण कर चुका था और जिसे स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिकता ने तरंगित और उद्वेलित किया था, 'सनातनधर्म' शब्द ही भड़कानेवाला था और वह भी मालवीयजी महाराज का 'सनातनधर्म'। हिन्दू-विश्वविद्यालय में छह वर्षों तक रहते हुए मालवीयजी महाराज का सान्निध्य प्राप्त । के सम्बन्ध में उनके विचारों से भी मैं अवगत था। परन्तु, काशी में पगड़धारी पण्डितों के बीच मेरे जैसा अदना व्यक्ति 'सनातनधर्म' के सम्पादन

का भार ग्रहण करे, यह बात कुछ अजब थी और हास्यास्पद भी। परन्तु, अघटनघटनानटीयसी कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् लीला के सामने मनुष्य की इच्छाओं और संकल्पों की क्या बिसात? मालवीयजी महाराज ने थोड़े में 'सनातनधर्म' की रूपरेखा मेरे सामने रखी, जो बड़ी ही विशद और व्यापक थी; परन्तु जिसे शब्दों में बांधना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य था।

चैत की शिवरात्रि के लगभग की बात है। मालवीयजी महाराज मसूरी चले जानेवाले थे और पूरी गरमी वहीं बितानेवाले थे। उन्होंने आदेश दिया कि 'सनातनधर्म' का पहला अंक शिवरात्रि पर निकल जाना चाहिए और मुझे उसके लिए जुट जाना चाहिए। पहले अंक के लिए मालवीयजी महाराज ने अपने आशीर्वचन लिखकर दे दिये। मुश्किल से पाँच-सात दिन हाथ में होंगे कि मुझे 'सनातनधर्म' के लिए सामग्री जुटाने में लग जाना पड़ा। पहले अंक के लिए मैंने देश के सभी महान् पुरुषों के आशीर्वचन माँगे, जो राजनीति और धर्म के क्षेत्र में अग्रगण्य माने जाते थे। गान्धीजी से लेकर म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तक, सभी ने अपने-अपने आशीर्वचन लौटती डाक से भेज दिये। 'सनातनधर्म' का कार्यालय विश्वविद्यालय के फाटक पर एक छोटे से मकान में खुला। मैं प्रधान सम्पादक और मेरे ही एक सहपाठी गणेशदत्त आचार्य इसके व्यवस्थापक बने। न मेरा कोई सहकारी था और न उनका। पत्र 'ज्ञानमण्डल' प्रेस में जो कबीरचौरा पर है, छपना था। सुबह दस बजे मैं 'ज्ञानमण्डल' पहुँच जाता था। पराड़करजी के बड़े भाई माधवराव पराड़कर 'आज' के व्यवस्थापक थे। दोपहर को चना और मुरही मंगाया करते थे और उस दावत में हम सबको शामिल कर लिया करते थे। स्वयं पराड़करजी ने विधवा-विवाह किया था, इसलिए मराठी ब्राह्मणों के समाज में उनका बहुत आदर न था।, परन्तु, उनके बड़े भाई, जो 'आज' के व्यवस्थापक थे, बड़े ही कट्टर एकनिष्ठ तपस्वी ब्राह्मण थे और ब्राह्मणों का बड़ा आदर करते थे। पता नहीं, क्यों आरम्भ से ही वे मुझे अपने बच्चे की तरह मानने लगे और बहुत प्यार से मुझे देखने लगे। काम करते-करते जब कभी मैं थक जाता, तब वे मेरी मेज पर आते और कुछ चुटकुले सुनाकर मुझे खूब हँसाते।

'सनातनधर्म' को बहुत बड़े-बड़े लेखकों का सहज सहयोग प्राप्त हो गया था और वे नियमित रूप से 'सनातनधर्म' में लिखा करते थे। प्रमुख रूप से 'सनातनधर्म' के लेखकों में थे म० म० पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं० केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत', आचार्य आनन्दशंकर बापू भाई 'ध्रुव', श्रीमैथिलीशरण गुप्त, पं० माखनलाल चतुर्वेदी,

पं० विष्णुशंकर शुक्ल, पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र, रायसाहब रघुवरप्रसाद द्विवेदी, पं० देवीदत्त शुक्ल, श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी, श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार और डॉ० मोहनलाल आत्रेय। इन लोगों के लेख समय-समय पर बिना माँगे आया करते थे? महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, आचार्य ध्रुव, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी और गोस्वामी गणेशदत्तजी तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—ये 'सनातनधर्म' के नियमित लेखकों में थे, जिनके लेख प्राय: प्रत्येक अंक में छपते रहे। मुखपृष्ठ आचार्य द्विवेदीजी के लिए सुरक्षित रहता। वे एक पृष्ठ का कोई भक्तिपूर्ण सन्दर्भ लेकर भावात्मक और प्रेरणात्मक छोटा-सा लेख भेज दिया करते, जो प्राय. श्रीमद्भागवत के किसी श्लोक के आधार पर हुआ करता था। गोस्वामी गणेशदत्तजी को 'हिमालय' में रहने का बड़ा शौक था और उन्होंने अपने लिए उत्तरकाशी मे एक छोटी सी कुटिया-भी बना ली थी। वहीं से वे नियमित रूप से एक पत्र लिखा करते थे जिसे हम 'सनातनधर्म' मे 'हिमालय की गोद में' शीर्षक से छापा करते थे। पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के लेख अपने वैशिष्ट्य और विचार-गाम्भीर्य के कारण बड़े ही चाव से पढ़े जाते थे। डॉ० आत्रेय योगवासिष्ठ का जीर्णोद्धार कर रहे थे और उनकी लेखमाला बराबर 'सनातनधर्म' में छपती रही। आचार्य शुक्लजी 'सनातनधर्म' के 'मानवीय रस' पर बराबर लिखते रहे और साहित्यिकों मे उनके लेखों को बहुत आदर मिलता रहा। पण्डित गर्देजी समय-समय पर राष्ट्रीयता और धर्म के सम्बन्ध में बड़े ही विचारोत्तेजक लेख लिखते थे—बड़ी मँजी हुई शैली और भावपूर्ण शब्द-विन्यास। पं० केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत' ने 'क्या यह भी सनातन धर्म है?' शीर्षक से एक बडी लेखमाला लिखी थी, जिससे पण्डितों के बीच खलबली मच गई थी। बाबू श्यामसुन्दरदास साहित्य के विभिन्न विषयों पर और डॉ० अचलबिहारी सेठ 'ऋतुचर्या' पर लिखा करते थे। यह सब था मालवीय जी महाराज के नाम का चमत्कार कि देश के चूडान्त विद्वान् और पण्डितों का सहयोग सहज ही 'सनातनधर्म' को प्राप्त हो गया।

ग्राहक-संख्या भी धड़ल्ले से बढ़ने लगी और पुराने अंकों की भी बेहद माँगें आने लगी। आरम्भ के कुछ अंकों को हमें दुबारा-तिबारा छापना पड़ा। परन्तु, अभी तक मैं अकेला इसमें खट रहा था और तब, जब प्रेस और युनिवर्सिटी के बीच, जहाँ से पत्र प्रकाशित होता था, सात-आठ मील का फासला था। सम्पादकीय में मैं बहुत बचकर नपे-तुले शब्दों मे अपने विचार प्रकट किया करता था; क्योंकि मालवीयजी महाराज के विचार कई मामलों मे अस्पष्ट-से थे। मन्दिर-प्रवेश, अछूतोद्धार, विधवा-विवाह आदि विवादग्रस्त विषयों को जान-बूझकर मैंने छुआ ही नहीं।

आये तो कैसे स्वीकार किया जा सकता था? उसके सामने सिर झुकाना अन्याय के सामने, समाज-विरोधी तत्त्वों के सामने सिर झुकाना था। इसलिए मैं अपने सिद्धान्त पर दृढ़ और अटल रहा।

पहले मैं यह कह आया हूँ कि गणेशशंकर की देशभक्ति और स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिक मस्ती मेरे रोम-रोम में छाई हुई थी। 'सनातनधर्म' के माध्यम से मैं इन्ही दोनों भावधाराओं को बड़ी ही सजगता और रसमग्नता के साथ पाठकों के सामने रख रहा था। परन्तु, इनमें से एक भी चीज पण्डितों के गले उतरनेवाली नहीं थी; क्योंकि इन दोनों में शास्त्रप्रमाण का नितान्त अभाव था। साथ ही, काशी का एक ऐसा भी दल था, जो सोलह आना मेरे साथ था, भले ही वह पण्डित-वर्ग नहीं था। श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी', श्रीजयशंकर प्रसाद, श्रीराय कृष्णदास, श्रीविनोदशंकर व्यास, श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे, पं० सत्यनारायण शास्त्री, प० रामनारायण मिश्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य ध्रुव, महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, कविराज प्रतापसिंह, और पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत सोलह आना मेरे विचारों के समर्थक थे। और 'सनातनधर्म' के प्रबल पोषक। इनके सहयोग से मैं 'सनातनधर्म' के स्वरूप को क्रमशः सँवारता गया और इसमे मुझे अन्यान्य विद्वज्जनों की बहुत बड़ी सहायता मिलती रही।

काशी के पण्डितों ने मुझसे और 'सनातनधर्म' से जो आशाएँ की थीं, वे सब निराशा मे बदल गईं और प्रतिक्रिया यह हुई कि मालवीयजी के पास जाकर मेरे बारे में वे कहते कि यह प्रच्छन्न आर्यसमाजी है, नास्तिक है, और काँगरेस का आदमी है; इससे सनातनधर्म का क्या भला हो सकता है? पत्र के बारे में पण्डितों की मान्यता यह थी कि यद्यपि इसका नाम 'सनातनधर्म' है, परन्तु है यह काँगरेस का समर्थक। पण्डितों ने मालवीयजी से असहयोग की धमकी दी और न जाने क्या-क्या झूठ-सच जोड़ा? मालवीयजी महाराज ने मुझे बुलाकर सारी बातें समझाईं, परन्तु साथ ही यह भी कहा कि अपनी देशभक्ति में अडिग रहो, परन्तु 'सनातनधर्म' के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएँ और समाचार विस्तार से छापा करो। मैं मालवीयजी का मतलब समझ गया और तब से पत्र में पंजाब और सीमाप्रान्त मे सनातन धर्म-प्रतिनिधि सभा की जितनी शाखाएँ और प्रशाखाएँ थीं, उनकी रिपोर्टें विधिवत् छपने लगीं और साथ ही 'सनातनधर्म' के प्रचार में लगे हुए उपदेशकों और महोपदेशकों के यात्रा-वृत्तान्त भी छपने लगे।

यह पत्र अखिलभारतीय सनातनधर्म-प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र था, इसलिए भी यह आवश्यक था कि वे खबरें विस्तार से छपें, किन्तु किसी प्रकार भी वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ की नीति और कार्यों से मैं समझौता नहीं कर पा रहा था।

मेरे मन में उसके खोखलेपन तथा दकियानूसी विचारों के विरोध में जो कुछ भी विद्रोह भरा हुआ था, वह समय-समय पर किसी-न-किसी प्रकार से प्रकट हो जाता था। पण्डित लोग इससे भी मुझसे काफी क्षुब्ध, असन्तुष्ट और चिढ़े हुए थे।

'सनातनधर्म' के सम्पादकीय स्टाफ में मेरे साथ चार व्यक्ति थे—पं० सीताराम चतुर्वेदी, डॉ० राजबली पाण्डेय, पं० गयाप्रसाद ज्योतिषी और पं० हीरावल्लभ शास्त्री। इन चारों से मुझे भरपूर सहायता मिलती थी और नीति-निर्धारण मे आरम्भ से ही इनका सहयोग मुझे मिलता रहा। पं० सीताराम चतुर्वेदी 'साहित्यिक समालोचना' लिखते थे, डॉ० राजबली पाण्डेय सांस्कृतिक विषयों पर निबन्ध और टिप्पणियाँ लिखते थे। पं० हीरावल्लभ शास्त्री धर्मशास्त्रविषयक प्रश्नों पर व्यवस्था देते थे और पं० गयाप्रसाद ज्योतिषी प्रचार का काम सँभालते थे। परन्तु, ये चारों-के-चारों अपनी स्वतन्त्र जीविका मे लगे हुए थे, इसलिए इनका पूरा-पूरा सोलहो आने सहयोग बराबर नहीं मिल पाता था। इसलिए तीन-चार महीने के बाद बहुत कहने-सुनने पर मालवीयजी महाराज ने एक सहकारी सम्पादक रखने की अनुमति दे दी थी।

उन दिनों काशी मे या यों कहिए कि समस्त भोजपुरी-क्षेत्र में पं० रामानुग्रह शर्मा व्यास की तूती बोलती थी। कथावाचकों में रामानुग्रह शर्मा और राधेश्याम जैसे व्यक्तियों ने जितनी प्रभूत ख्याति, कीर्ति और अर्थ कथा के माध्यम से अर्जित किया है, उतना इस देश मे शायद ही किसी ने किया हो। रामानुग्रह शर्मा प्रायः मालवीयजी के पास अपने विचित्र वेष में आया करते थे। गहरा साँवला रंग, गोल चेहरा; परन्तु उसपर रंगीन पगड़ी, अचकन और रंगीन धोती अजीब रंग लाती थी। शर्माजी ने मालवीयजी के सामने शिवपूजन सहाय का नाम प्रस्तावित किया। उन दिनों शिवजी काशी मे ही थे। उनका सिद्धान्त था—

> चना चबेना गंग जल, जो पुरवै करतार।
> काशी कबहूँ न छाँड़िये, विश्वनाथ दरबार॥

एक दिन रामानुग्रह शर्मा, शिवपूजन सहाय और मैं एक इक्के पर बैठकर मालवीयजी के पास गये। मालवीयजी ने मुश्किल से दस-बारह मिनट बातें की होंगी कि वे अन्यमनस्क से हो गये और हम लोग चुपचाप लौट आये। दूसरे दिन मालवीयजी ने मुझसे कहा कि मैं 'सनातनधर्म' के लिए कोरा साहित्यिक नहीं चाहता। मुझे चाहिए सनातनधर्म का ज्ञाता और अनुभवी। इसपर मैंने जब महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा लक्ष्मणनारायण गर्दे का नाम प्रस्तुत किया, तब

मालवीयजी ने यह कहकर टाल दिया कि बहुत सारी बातों में इनसे मेरा मतभेद है। जो हो, मुझे तो तत्काल एक सहायक की आवश्यकता थी और चुपचाप मैंने प० शान्तिप्रिय द्विवेदी को अपने पास बुला लिया।

पं० शान्तिप्रियजी बड़े ही मनोयोग से प्रेमपूर्वक लेखों के चयन में, उनके संशोधन और सम्पादन मे, सम्पादकीय लेख और टिप्पणियों में, समाचार-संकलन और सारे मैटर को सँवारने और सजाने—'मेकअप' और 'गेटअप' मे मेरी बड़ी सहायता करते थे। प्रूफ देखने में तो शायद वे हिन्दी में अपने ढंग के एक ही पुरुष हैं और कही यदि हार मान सकते हैं, तो केवल शिवपूजन सहाय से। शान्तिप्रिय जी का काशी के सभी क्षेत्रों में खूब गहरा प्रवेश था और इसलिए जगह-जगह की चुनी हुई खबरें वे 'सनातनधर्म' के लिए लाया करते थे। बड़े ही परिश्रम और निरलस भाव से वे 'सनातनधर्म' में जुटे रहते थे और मेरा बहुत-सा भार उन्होंने हलका कर दिया था। एक बार 'सनातनधर्म' में शान्तिप्रियजी की डायरी के कुछ पन्ने छप गये। इनको लेकर विश्वविद्यालयवालों ने और काशी के पण्डितों ने खासा वावेला मचाया और बात मालवीयजी तक पहुँच गई।

शान्तिप्रियजी बड़े ही आत्माभिमानी और मनस्वी पुरुष हैं। हम दोनों जैसे-जैसे निकट आते गये, वैसे-वैसे इनके इन दोषों-गुणों का अनुभव मुझे होने लगा। परन्तु, मैंने यह सोच रखा था कि मैं अपनी ओर से कोई ऐसा व्यवहार न करूँ, जिससे इनके स्वाभिमान और मनस्विता को ठेस लगे। परन्तु, अज्ञान में भी क्वचित् कदाचित् यदि मुझसे कोई भूल हो जाती, तो वे लाल-लाल आँखें करके मुझपर बुरी तरह बिगड़ते और भला-बुरा सब कुछ सुना जाते। ऐसे अवसरों पर चुप रहने की कला मुझे मालूम है। इसलिए कभी ऐसा संयोग नही आया कि हमारे-उनके बीच मनोमालिन्य बढ़े, यद्यपि मतभेद बना रहा।

विभिन्न सूत्रो से मालवीयजी के पास जो समाचार पहुँचते थे, उससे वे 'सनातनधर्म' पर हृदय से प्रसन्न नही दिखते थे। सबसे पहले तो मालवीयजी यह चाहते थे कि भारतवर्ष में जितने गाँव हैं, कम-से-कम उतनी प्रतियाँ 'सनातनधर्म' की अवश्य छपनी चाहिए और प्रत्येक गाँव में 'सनातनधर्म' अवश्य पहुँच जाना चाहिए। यह एक प्रकार से असम्भव-सी कल्पना थी। परन्तु, मालवीयजी महाराज कभी कोई बात छोटे पैमाने पर सोच ही नही सकते थे और इसलिए 'महामना' शब्द उनके नाम के साथ इतना सटीक बैठता है कि कोई दूसरा शब्द उनके पूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। 'सनातनधर्म' की ग्राहक-संख्या दो ही तीन महीनों में छह हजार तक पहुँच गई थी, परन्तु मालवीयजी को इससे घोर असन्तोष था और वे बराबर पूछा करते थे कि कबतक ग्राहक-संख्या बीस लाख तक पहुँचेगी।

मालवीयजी जिस काम को शुरू करते, उसे संसार में सर्वोपरि बनाकर ही छोड़ते थे। इसका उदाहरण काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय है। विश्वविद्यालय के प्रागण-भाग में विश्वनाथ का मन्दिर जब बनने लगा, तब मालवीयजी ने कहा था कि इसका शीर्ष-कलश भारतवर्ष में सबसे ऊँचा होगा—कुतुबमीनार से भी ऊँचा !

प्राय: सभी बातो में मालवीयजी का संकल्प महान् होता था। 'सनातन-धर्म' के ग्राहकों की संख्या हजारों के भीतर रहे और लाखों को पार न कर जाय, यह मालवीयजी के लिए असह्य था। धीरे-धीरे ग्राहक-संख्या बढ़ने के वे हिमायती न थे। कभी-कभी ऐसा लगता था कि वे व्यावहारिक पक्ष की कठिनाई समझ नहीं पा रहे हैं। पत्र कहाँ छपता था, कहाँ से प्रकाशित होता था और उसमे कितने आदमी काम करते थे, यह बिना समझे-बूझे ही यह सोचने लगना कि इसकी ग्राहक-संख्या दो-चार महीनों में ही लाखों तक क्यों नहो पहुँच गई, बड़ी अटपटी-सी बात थी। परन्तु, जैसा ऊपर कह आया हूँ मालवीयजी सीमा में कभी सन्तुष्ट नहीं रहते थे; क्योंकि 'भूमा' का आनन्द उन्हें मिल चुका था।

'सनातनधर्म' में आकर मैंने विधिवत् शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। मनु याज्ञवल्क्य और पाराशर स्मृतियों को छान डाला। उपनिषद्, भागवत, गीता और कतिपय प्रमुख पुराणों का खूब ध्यान से और पूरे मनोयोग से स्वाध्याय कर गया। इसके अतिरिक्त समय-समय पर डा० भगवान दास, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पं० बालकृष्ण मिश्र, पं० महादेव शास्त्री तथा काशी के साधु-संन्यासियों से भी विचार-विमर्श एवं सत्संग करता रहता था। धीरे-धीरे स्वाध्याय और चिन्तन के बल पर अपने को ऐसा बना लिया कि 'सनातनधर्म' का साधिकार सम्पादन कर सकूँ और उसे जनसामान्य तक सरल और रोचक ढंग से पहुँचा सकूँ। प्रो० रोनाल्ड निक्सन, जो पीछे वैष्णव धर्म स्वीकार कर 'श्रीकृष्णप्रेम-वैरागी' बन गये थे, 'सनातनधर्म' में बराबर लिखते थे। मुझसे स्नेह करनेवाले कई विशिष्ट विद्वान् अपने लेख बिना माँगे ही भेज दिया करते थे। ऐसे ही लेखों में एक मिला जोरहाट (आसाम) के ब्रह्मचारी चैतन्य गोपालदेव का लिखा हुआ, जो 'इन्द्रियसंयम' पर था। इस लेख को मैं सरसरी निगाह से देख गया और यह सोचकर कि ब्रह्मचारी का 'इन्द्रिय-संयम' पर यह लेख है, इसलिए इसमें विशेष कुछ सम्पादन और काट-छाँट की आवश्यकता न होगी, मैंने उसे ज्यों-का-त्यों प्रेस में छपने को दे दिया।

उस अंक के सारे मैटर को प्रेस में दे चुकने के बाद एकाएक मुझे, एक अत्यन्त दुःखद घटना के कारण, घर चला आना पड़ा और मैंने अपने सहकारी श्रीशान्तिप्रिय जी से और सहयोगी पं० श्रीसीताराम चतुर्वेदी से कह दिया कि वे कृपया प्रूफ

देख लेंगे आवश्यकतानुसार संशोधन कर लेंगे। परन्तु, घटना-चक्र कुछ ऐसा चला कि उन लोगों ने भी उस लेख को ज्यों-का-त्यों छप जाने दिया। समय पर अंक निकल गया। घर से लौटते हुए मुगलसराय स्टेशन पर ह्वीलर के बुकस्टाल से 'सनातनधर्म' की एक प्रति खरीदकर जब मैंने पढ़ना प्रारम्भ किया, तब सबसे पहले उसी लेख पर मेरी दृष्टि गई और मैंने देखा कि ब्रह्मचारीजी के 'इन्द्रिय-संयम' लेख में दुनिया-भर की अश्लीलता और गन्दगी भरी हुई थी। मेरा माथा ठनका और मैं समझ गया कि यह लेख ही सम्भवतः मेरे लिए 'सनातनधर्म' में अन्तिम नमस्कार का कारण बन जायगा। बात हुई भी वही। जैसे ही मैं कार्यालय पहुँचा, मालवीयजी महाराज के सेक्रेटरी की ओर से एक मुहरबन्द लिफाफा मिला, जिसमें लिखा था कि मालवीयजी चाहते हैं कि मैं उनसे शीघ्र मिलूँ। मैंने समझ लिया कि रहस्य क्या है। मैं मालवीयजी के बँगले पर पहुँचा। जाड़े के दिन थे। सवेरे के सात बज रहे होंगे। मालवीयजी अन्दर तेल की मालिश करा रहे थे। मालवीयजी के अन्तःपुर में मुझे जाने की छूट थी और मैं सीधे वहाँ पहुँच गया। मालवीयजी को प्रणाम कर सामने बैठ गया। मालवीयजी मुझे डाँटना चाहते थे, परन्तु नौकर के सामने डाँटना उन्होंने उचित नहीं समझा, इसलिए अंग्रेजी में मुझे समझाने लगे, ताकि नौकर यह न समझ सके कि हमारे बीच क्या बात हो रही है। मैं चुपचाप सुनता रहा और वे बोलते गये। अन्त में, मैंने इतना ही कहा कि "मैंने आरम्भ में ही निवेदन किया था कि मैं 'सनातनधर्म' के सम्पादक-पद के योग्य नहीं हूँ और इस पद पर म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी को बैठाना चाहिए था, या पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे को या पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी को। सहकारी के रूप में मैं बहुत अच्छी सेवा कर सकता था, परन्तु आपने मेरा विश्वास किया और मुझे हार्दिक दुःख है कि मैं अपने को आपके विश्वास के योग्य सिद्ध न कर सका।" मालवीयजी के चेहरे का तनाव कुछ कम हुआ और उन्होंने कहा कि तुम हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में या पुस्तकालय-विभाग में कल से काम करोगे और तुम्हारे स्थान पर पं० सीताराम चतुर्वेदी 'सनातनधर्म' का सम्पादन करेंगे। मैंने हाथ जोड़ कर बड़ी नम्रता और शिष्टता के साथ कहा कि "मुझे आपका आशीर्वाद चाहिए; परन्तु मैं अब आपकी छाया में काम करना नहीं चाहता। भगवान् की बड़ी लम्बी बाँह है और मैं इससे भी उत्तम काम ढूंढकर ही आपके पास लौटूंगा।" इतना कहकर मैंने मालवीयजी के चरण छुए और चुपचाप विदा हुआ। मालवीयजी मुझे देखते रह गये। घर लौट कर मैंने 'विदा' शीर्षक एक टिप्पणी लिखी और 'सनातनधर्म' का सम्पादन-भार पं० सीताराम चतुर्वेदी को सौंपकर अन्यत्र काम की तलाश में निकला। उन दिनों मैं अस्सी के गंगातट

पर एक छोटे-से मकान में परिवार-सहित रहता था। परिवार में थी केवल मेरी माँ और धर्मपत्नी। इन्हें काशी में ही छोड़कर और बिना बतलाये ही कि आज क्या घटना हो चुकी है, मैं काम की तलाश में, चुपचाप रात को निकल पड़ा।

विश्व-प्रवाह में बहते हुए मुझे कबीर का एक दोहा बार-बार याद आया है और ऐसा लगता है कि शायद वह दोहा कबीर ने मेरे ही लिए लिखा हो—

मैं हूँ कुतिया राम की, मुतिया मेरो नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ॥

'सनातनधर्म' और मालवीयजी से विदा होकर मैं 'हिन्दी-मिलाप' में काम करने के लिए लाहौर जाना चाहता था। मन-ही-मन वहीं के लिए मैंने सारी तैयारी कर ली थी। 'हिन्दी-मिलाप' के सम्पादक और संस्थापक श्रीखुशहालचन्द खुरसन्द से मेरा पत्र-व्यवहार था। 'सनातनधर्म' के बहुत-से लेख वे प्रायः अपने पत्र में ज्यों-के-त्यों उद्धृत कर लिया करते थे। मेरी ओर से उनको इस बात के लिए पूरी छूट थी और इस कारण भी वे 'सनातनधर्म' और मुझ से काफ़ी प्रभावित थे। पंजाब और सीमाप्रान्त यों भी मेरे लिए तीर्थ-स्थान की तरह प्रेम और आकर्षण के केन्द्र थे; क्योंकि मेरे पूर्वज तीन पीढ़ियों से वहीं रहते आये थे और मेरे पिताजी का स्वर्गवास भी वहीं 'सीमाप्रान्त' में हुआ था। इन्हीं सारे आकर्षणों से अभिभूत होकर लाहौर के लिए चला। परन्तु, स्टेशन पहुँचने पर मेरे मन में न जाने कैसे यह प्रबल और अनुल्लंघनीय प्रेरणा उदय हुई कि मुझे गोरखपुर होते हुए जाना चाहिए। निदान, मैंने गोरखपुर का टिकट कटाया और प्रातःकाल सबेरे वहाँ पहुँचा। सिविल-लाइन्स में मेरे एक वकील-मित्र, जो मेरे सहपाठी और साथियों थे, रहते थे उन्हीं के यहाँ मैं उतरा और स्नानादि से निवृत्त हो 'गीताप्रेस' पहुँचा। गीताप्रेस गोरखपुर के उर्दू मुहल्ले में एक बहुत ही छोटे स्थान में जमा हुआ था। यों गोरखपुर शहर ही काफी गन्दा है और उसमें भी उर्दू मुहल्ला। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के उन्मुक्त वातावरण में रहनेवाले व्यक्ति के लिए गोरखपुर का उर्दू मुहल्ला नरक से भी बदतर लगा। परन्तु, सबेरे की बात ऐसी कि मैं जैसे ही गीताप्रेस के अन्दर पहुँचा, प्रेस की कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी। मैंने अपने आने का हेतु प्रेस-व्यवस्थापिका को बतलाया और अपने सम्बन्ध में एकमात्र सिफारिश अपनी प्रकाशित पुस्तक 'मीरां की प्रेम-साधना' को मैंने कार्यकारिणी के सम्मुख रखा। आश्चर्य की बात कि कार्यकारिणी ने मेरी पुस्तक देखकर तत्काल ही यह निर्णय लिया कि मैं 'कल्याण' (हिन्दी) तथा 'कल्याण-कल्पतरु' (अंगरेजी) के सहकारी सम्पादक के रूप में आ सकता हूँ। कार्यकारिणी के सदस्यों में किसी का

भी व्यक्तित्व मुझे आकर्षक न लगा। ठेठ मारवाड़ी शैली का लिबास, बातचीत करने की हल्ला-गुल्लावाली शैली, उठने-बैठने का बेढंगा ढंग। सबसे अधिक उर्दू मुहल्ले की गन्दगी को देखकर मैं मन-ही-मन यह सोचने लगा कि मेरी नियुक्ति भले ही यहाँ हो गयी, परन्तु एक दिन भी मेरे लिए यहाँ रहना कठिन क्या, असम्भव होगा। मैं सचमुच बड़े ही पशोपेश मे था और भगवान् के दिये हुए इस अयाचित दान को सहज स्वीकार करने की मेरी इच्छा कदापि न थी। इतने मे ही क्या देखता हूँ कि एक नाटे ठिगने-से व्यक्ति, जो सफेद चौबन्दी पहने हुए और मस्तक पर सफेद तिलक की बिन्दी लगाये हुए थे, आगे बढे और बड़े ही सहज भाव से मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बोले कि आप यहाँ के वातावरण से घबराइए नहीं। यह तो 'कल्याण' का 'लोकालय' है। सम्पादन-विभाग के हम सभी लोग शहर से दूर गोरख-नाथ के मन्दिर के पास एक बगीचे मे रहते हैं और वहीं आपके भी रहने का प्रबन्ध होगा। वह व्यक्ति 'कल्याण' के यशस्वी सम्पादक स्वनामधन्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार थे, जिन्हें हम लोग 'भाईजी' के नाम से जानते हैं।

'कल्याण' में नियुक्ति पाकर 'हिन्दी-मिलाप' लाहौर की बात मेरे दिमाग से निकल गयी और मैं दो दिन की मुहलत लेकर काशी आया और पूज्य मालवीयजी महाराज से मिला। वह दृश्य कभी आँखों से ओझल नही हो सकता, जब मैं मालवीयजी महाराज से विदा ले रहा था। शान्त और स्वस्थ हो चुकने पर मालवीयजी महाराज ने यह महसूस किया था कि उन्होंने मेरे साथ न्याय नही किया और एक लेख के चलते इतना बड़ा दण्ड दिया। गोरखपुर से लौटकर जब मालवीयजी से मिलने गया तब वे बँगले के बाहरवाले बरामदे में धीरे-धीरे टहल रहे थे। धोती और कुरता पहने हुए थे और उनके मस्तक का तिलक अभी पूरा सूखा नही था। इससे मालूम हो रहा था कि वे अभी सन्ध्या करके उठे हैं। मालवीयजी महाराज के चरणों में साष्टांग नमन किया और बड़ी ही नम्रता और शालीनता के साथ उनकी सेवा में यह सूचना दी कि मैं 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग में काम करने के लिए गोरखपुर जा रहा हूँ, तो मालवीयजी महाराज की आँखें छलछला आईं। उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा कि 'देखो, भुवनेश्वर, मैंने तुम्हारे साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। हिन्दू-विश्वविद्यालय में अबतक इस प्रकार का अन्याय किसी के साथ नही हुआ है। मेरा कहना मान जाओ और मेरे साथ बने रहो।' मेरा मन, पता नही क्यों, उस समय वज्र की तरह कठोर हो गया था। मैंने कहा कि 'बाबूजी, मैं तो आपसे आशीर्वाद लेने आया हूँ।' पुन. उनके चरण छू कर बिना उनकी अनुमति लिए मैं चल पड़ा और फाटक तक पहुँचते-पहुँचते जब-जब घूम-घूमकर देखता रहा, मालवीयजी एकटक मेरी

44126

और निहार रहे थे और मन्मवतः अपने किये पर पछता रहे थे। परिवार को घर पहुँचाकर मैं तुरन्त गोरखपुर पहुँचा। गोरखनाथ के सुप्रसिद्ध मन्दिर से और पश्चिम एक छोटे से उद्यान में कल्याण का सम्पादकीय विभाग था। मकान कहने को नाम-मात्र का था। चारों ओर दूर-दूर तक आम, अमरूद, नासपाती और नारंगी के बागीचे थे। एक विशालकाय आम्रवृक्ष के नीचे चटाई डालकर हम लोग काम करते थे। प्रातःकाल चार बजे से रात के ग्यारह-बारह बजे तक कथा, कीर्त्तन, सत्संग, प्रवचन का प्रोग्राम चलता रहता था। कार्यालय का कोई बँधा हुआ समय न था। फिर भी, औसतन सात-आठ घण्टे सम्पादकीय कार्य में हम लोग संलग्न रहते थे। मेरे जिम्मे अँगरेजी-पत्रों का उत्तर लिखवाना, 'कल्याण' के लिए एक लेख लिखना, 'कल्पतरु' के लिए एक अनुवाद करना और पुस्तकों का अन्तिम प्रूफ देखना था। यह कार्य सर्वथा मेरे मन के लायक था। सारा वातावरण इतना प्राकृतिक, उन्मुक्त, सहज और भक्तिरस से ओतप्रोत था कि मालूम होता था कि मैं इसी की तलाश में इतने दिन भटक रहा था। पोद्दारजी का शील-स्वभाव सहज ही किसी को भी आकृष्ट कर लेता है। वाणी इतनी मधुर, स्वभाव इतना स्नेहिल और व्यवहार इतना साधु कि लगता है कि यह व्यक्ति इस पृथ्वी का नहीं है, किसी देवलोक से उतर कर विश्व को प्रेम का पाठ पढ़ाने के लिए, रागद्वेष की महावह्नि में जलती हुई मानवता पर अमृत की वर्षा करने के लिए ही मनुष्य का शरीर धारण किये हुए हैं। सम्पादकीय विभाग में हम लोग जितने आदमी थे, उतने प्रान्तों के थे। बिहार, बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास और राजस्थान का एक अपूर्व संगम 'कल्याण' के सम्पादकीय विभाग में देखने को मिलता था। बागीचे में ही एक किनारे चौका था, जिसमें हम सभी भोजन करते थे और उसमें अपनी-अपनी रुचि तथा आवश्यकता के अनुसार किसी को छाछ अधिक चाहिए, तो किसी को लाल मिर्च और किसी को केवल भात, तो किसी को केवल रोटी। इस प्रकार, हम लोग मिल-जुलकर सार्वदेशिक भोजनालय में एक साथ भोजन करते थे और रात को बागीचे में अपनी-अपनी चटाइयाँ बिछाकर सो जाते। वहाँ बड़ा ही निराला और पवित्र वातावरण था और ऐसा प्रतीत होता था कि इसके दिव्य सौन्दर्य के सामने स्वर्ग भी तुच्छ है। छह बजे प्रातःकाल हम लोग स्नान-सन्ध्या से निवृत्त होकर सामूहिक कीर्त्तन के लिए एकत्र हो जाते थे। झाँझ, मृदंग, ढोल, करताल, पखावज, खोल के साथ करीब एक घण्टे तक खूब धुँआधार कीर्त्तन होता था। कीर्त्तन के बाद श्रीगोस्वामी पं० चिमनलालजी शास्त्री 'विनय-पत्रिका' से या सूर या मीरां के कोई मधुर पद समाधिस्थ होकर सुनाते थे। उनके सुनाने का ढंग इतना मोहक और मनप्राण को मुग्ध करनेवाला होता था कि हम

सभी एक प्रकार से भाव-समाधि में डूब जाते थे। इसके पश्चात् श्रीपोद्दारजी का प्रवचन होता था। इस प्रवचन में प्रायः भक्तिरस की वर्षा होती थी।

इसी बीच एक भयंकर दुर्घटना घटी। हमलोगों के साथ महाराष्ट्र के बाल ब्रह्मचारी श्रीचैतन्य गोपालजी रहते थे। बहुत बचपन में ही इन्होंने घर छोड़ दिया था और सन्यास लेकर उत्तराखण्ड के केदारनाद में पन्द्रह-सोलह वर्षों तक फल-फूल खाकर घोर तपश्चर्या और भयंकर आत्मसंयम का जीवन बिता चुके थे। अब उनकी अवस्था पैंतालीस-पचास के लगभग थी। गोरा-चिट्टा शरीर, लम्बा छरहरा कद, सोने की-सी कान्ति, लम्बी आपाद पिंगल जटाएँ, गैरिक वसन। यह कुल मिलाकर उनके व्यक्तित्व में अपूर्व दीप्ति भर रहा था। उनके गैरिक वसन से एक विचित्र ज्योति निकलती थी, जो उष:कालीन सूर्य की ज्योति से मिली-जुली होती थी। उनका शरीर भी तपाये हुए सोने की तरह दमकता था। रहते थे वे हमलोगों के साथ बागीचे में, परन्तु रामायण-परीक्षा का काम देखने के लिए उन्हें प्रायः शहर में जाना पड़ता था। उन दिनों 'रामायण-परीक्षा' का कार्यालय उर्दू मुहल्ले में ही प्रेस से सटे हुए एक किराये के मकान में था। रास्ते में कुछ ऐसे मुहल्ले पड़ते थे, जहाँ शहराती ढंग की बाजारू औरतें रहती थीं। गोरखपुर में ऐसी अभागिन बहनों की संख्या बहुत काफ़ी है, जो अपने शरीर को बेच कर अपना पेट पालती हैं।

स्वामीजी कार्यालय आते-जाते इनमें से एक की 'कृपादृष्टि' के 'शिकार' हो गये। हम लोग क्या देखते हैं कि उन्होंने चुपचाप अपनी जटाएँ कटा ली हैं और भगवा वस्त्र की जगह श्वेत वस्त्र धारण कर लिये हैं और चेहरे पर जो दीप्ति और कान्ति दमक रही थी, वह गायब है और एक अजीब ढंग से अनमने-से उदास लग रहे हैं। उनका यह सहसा परिवर्त्तन हममें से किसी को प्रिय न लगा और उनके भविष्य के सम्बन्ध में हम सभी सशंक हो उठे। स्वामीजी ने हठात् मुझे एकान्त में ले जाकर बतलाया कि वे विवाह करना चाहते हैं और गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करना चाहते हैं। ये सारी बातें जब मैंने पोद्दारजी को बतलाईं, तब उन्होंने कहा कि देखिए, संसार की माया कितनी विलक्षण है और कितनी दूर तक मनुष्य का पीछा करती है। यह व्यक्ति, जिसने बहुत बचपन में घर-द्वार छोड़ दिया, तीर्थों में पर्यटन किया और पन्द्रह-बीस वर्ष तक उत्तराखण्ड के केदार आश्रम में फल-फूल पर रह कर घोर तपश्चर्या की, जो हम लोगों के बीच विरक्ति की मूर्ति था, वही आज कुसंग के कारण विवाह करने पर तुल गया है और वह भी जब उसकी उम्र पचास के आस-पास है!

स्वामीजी की मानसिक विकृति के कारण हमलोगों के आश्रम का जीवन

काफी क्षुब्ध और चंचल हो गया था। पागल की-सी उनकी हालत हो गई थी। उन्हीं दिनों मेरे ऊपर दमा का आक्रमण हुआ और मैं एक कैम्प खाट पर लेटे-लेटे तड़प रहा था कि स्वामीजी एकाएक आये और मेरी छाती पर चढ़ बैठे और गला घोंटने लगे। उनका यह खयाल था कि मैंने ही उनकी बात श्रीपोद्दारजी तक पहुँचाई है। न जाने कहां से इतनी शक्ति मुझमें आ गई कि लेटे-लेटे ही उन्हें मैंने अपनी छाती पर से उलट फेंका और जब वे नीचे गिर गये, तब स्वयं उनपर सवार होकर चार-पांच घूँसे लगाये। घूसे लगते ही स्वामी जी कुछ होश में आये और मुझसे क्षमा मांगने लगे। इतने में ही श्रीपोद्दारजी कमरे में आ गये और यह सारा दृश्य देखा। यह समझकर कि स्वामीजी का मस्तिष्क काबू में नहीं है, एक आदमी के साथ उन्हे उनके गुरुधाम 'पंढरपुर' को भेज दिया। इस घटना का मेरे ऊपर बड़ा गहरा असर हुआ और तभी से मुझे एक ऐसा सबक मिल गया कि जीवन में मध्यममार्ग ही सबसे श्रेष्ठ है और कभी किसी दिशा में, चाहे वह त्याग और तपस्या की ही दिशा क्यों न हो, 'अति' की ओर बढ़ने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। इसी बात को गीता ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात्, जो आहार और विहार में, कर्म और विश्राम में, सोने और जगने में, मध्यममार्ग का आश्रय लेते हैं, उनके लिए योग समस्त दुःखों का नाश करनेवाला होता है। अर्थात्, उनका जीवन सब प्रकार से सन्तुलित और सुखी होता है।

'कल्याण' का वातावरण सर्वथा निराला और सबसे भिन्न था। इस अर्थ में, कि वहाँ सम्पादकीय ठाट-बाट कुछ था ही नहीं और दफ्तर जैसी कुछ चीज भी नहीं थी। आम के पेड़ के नीचे चटाइयाँ डालकर हम लोग काम करते और आवश्यकता पड़ने पर विचार-विमर्श कर लेते थे। कहीं किसी को कोई आदेश भी देना हुआ, तो ऐसी भाषा में वह दिया जाता था, जिसमें आदेश की गन्ध न हो।

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी, जिन्हें हमलोग श्रद्धा और प्यार से 'भाईजी' कहते हैं, मण्डल के मुख्य थे। इनके अतिरिक्त पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पं० चिम्मनलाल गोस्वामी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० राजबली पाण्डेय, पं० शान्तनुविहारी द्विवेदी (अब स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती), श्रीमुन्नीलाल (अब स्वामी श्रीसनातनदेव), पं० रामनारायण शास्त्री आदि विद्वानों का सहज सत्संग प्राप्त हुआ। और, इनके संग में आत्म-विकास के लिए पूरा अवकाश मिलने लगा 'कल्याण' के लिए प्रतिमास एक लेख मुझे लिखना पड़ता था। वह लेख

प्राय: किसी भक्त की गाथा होती या किसी मध्यकालीन सन्त के जीवन-चरित्र और उनकी साधना का विवेचन होता। अँगरेजी या हिन्दी-पत्रों के उत्तर लिखने में 'कल्याण' की एक खास शैली थी, जिससे अवगत होने में कुछ समय लगा। ये पत्र प्राय: किसी-न-किसी धार्मिक पहलू, आध्यात्मिक प्रश्न या साधना-सम्बन्धी शंकाओं के समाधान मे लिखे जाते थे। प्रश्न भी बड़े विचित्र और बेतुके हुआ करते थे। कभी-कभी उन्हें पढ़कर हँसी भी आती थी कि ऐसे मूर्खों का अध्यात्म मे क्या वास्ता! परन्तु 'कल्याण' की शैली यह थी कि चाहे जो भी पत्र हो, और जैसी भी उसकी शंकाएँ हों, उनका पूरा-पूरा समाधान और निवारण समुचित ढंग से होना चाहिए। और, किसी भी अवस्था मे अविनय का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। ऐसे पत्रों के उत्तर लिखने मे श्रीपोद्दारजी को कमाल हासिल था। आरम्भ के अब पाँच-छह महीनो मे उनके विचारो एवं शैलियों से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैं स्वतन्त्र रूप से भी प्राप्त पत्रों की शंकाओं का समाधान कर सकता था और उनके प्रश्नों का उत्तर दे सकता था। जो कुछ भी हो, मुझे लगता यह था कि मैं स्वयं अपने साथ छल कर रहा हूँ; क्योंकि मेरी अपनी ही शंकाएँ अपनी पूरी जटिलता के साथ ज्यों-की त्यों बनी हुई थी।

श्रीपोद्दारजी का हरिनाम मे अखण्ड विश्वास था और वह प्राय: हर मानसिक चिन्ता, अभाव की पीड़ा, दैन्य-दु:ख, ऋणमुक्ति, चारित्रिक स्खलन आदि सभी के लिए नाम-जप की अचूक विधि की व्यवस्था दिया करते थे। उनकी देखा-देखी मैंने भी वही नीति अख्तियार की। परन्तु बराबर मुझे यह खलता रहा कि स्वयं मुझे भी इसका प्रयोग करके देखना चाहिए। हिन्दी-निबन्धों के अँगरेजी अनुवाद में भी मुझे आरम्भ मे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अँगरेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के मुख्य सम्पादक थे पं० चिम्मनलाल गोस्वामी। उनके पास हमलोगों के अनुवाद जब जाते, तब उसे वे ऐसी बेरहमी से मरम्मत कर डालते और उसके स्थान पर अपना अनुवाद बैठा देते कि संशोधित प्रति को देखने पर अपने पर बड़ी दया आती और अपनी अयोग्यता खलने लगती।

यों, 'कल्याण' की रीति-नीति और विचारों को पूरा-पूरा हृदयंगम करने में लगभग छह मास लग गये, फिर भी यह नहीं कह सकता कि वहाँ की सारी बातें मेरे लिए अनुकूल ही थी या पसन्द थी। आचार-विचार, छुआछूत और खान-पान के सम्बन्ध में कई बार उनके विचारो से मेरे विचार टकराये, परन्तु अन्ततोगत्वा मैंने यह अनुभव किया कि इन सारी बातों मे 'कल्याण' का आग्रह निश्चय ही स्वस्थ और सुखप्रद था—स्वास्थ्य की दृष्टि से भी और साधना की दृष्टि से भी।

सम्पादकीय विभाग में हम जितने व्यक्ति थे, उतने प्रान्तों के थे, और उतने ही विभिन्न रंग-ढंग के। पूज्य श्रीगर्देजी महाराज हमलोगों में सबसे श्रेष्ठ, अनुभवी, और चूडान्त विद्वान् थे। परन्तु, उनकी चुहल और जिन्दादिली मुर्दे को भी हँसा दे। वे शरीर से वृद्ध, परन्तु हृदय से चिर तरुण थे। घोर कष्टों और कठिनाइयों से गुजरते हुए भी उन्होंने कभी जीवन में निराशा को स्वीकार नहीं किया। बड़े सुन्दर अक्षर उनके होते थे। बड़ा जमकर लिखते थे, और जहाँ कहीं शब्द काटना हुआ, तो उसको इस ढंग से काटते थे कि उसमें कोई चित्र निकल आये। उनका लिखना भी एक उपासना की तरह था। अपनी कलम और दावात को बड़े ढंग से, पवित्रतापूर्वक रखते थे, जैसे सन्ध्या के पात्रों को रखा जाता है। फाउंटेन पेन से लिखने की आदत उनकी नहीं थी, इसलिए अपनी कलम और दावात को बकायदा रखते थे, और किसी को छूने नहीं देते थे। श्रीगर्देजी 'श्रीकृष्ण सन्देश' और 'भारत-मित्र' के सम्पादन का अनुभव, प्रतिभा और क्षमता लेकर 'कल्याण' में आये थे और उन्हीं की प्रेरणा से 'कल्याण' का 'योगांक' और 'शक्ति-अंक' प्रकाशित हुए, जो अब तक के प्रकाशित सभी विशेषांकों में सर्वोत्तम माने जाते हैं।

'कल्याण' के सम्पादकीय मण्डल के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्त भी थे। उन नियमों में दोनों समय की सन्ध्या, गीता का स्वाध्याय और पाठ, रामचरितमानस का पाठ, हरिनाम-स्मरण, सर्वत्र भागवत भाव, अक्रोध, और सत्यभाषण, अल्प भाषण, मौन और कुछ शारीरिक व्यायाम थे। इन नियमों में दो बड़े ही महत्त्व के थे। एक तो सर्वत्र भागवत भाव और दूसरा प्रति आधे घण्टे पर भगवान् का स्मरण और स्मरण आने पर उसे देर तक कायम रखने की वृत्ति। सन्ध्या-कालीन सामूहिक प्रार्थना के बाद श्रीपोद्दारजी की उपस्थिति में हम लोग नित्य नियमों के सम्बन्ध में परस्पर विचार-विमर्श करते और यह देखते कि कहाँ त्रुटि हो गई है और उसे कैसे सुधारा जा सकता है। खान-पान में संयम था। तेल, मिर्च, खटाई का व्यावहार नहीं के बराबर था। सबसे बड़ी बात यह थी कि ये नियम कभी बन्धन नहीं बने। इन्हें स्वेच्छया और सहर्ष हमलोग स्वतः पालन करते थे और डायरी रखते थे।

'सनातनधर्म' में मालवीयजी के साथ रहते-रहते देश के शीर्षस्थ नेताओं का दर्शन, उनके साथ मिलने-जुलने का और परिचय का अवसर, काशी में पर्याप्त मिल चुका था। 'कल्याण' में आने पर देश के और कभी-कभी विदेश के भी प्रसिद्ध साधु-महात्माओं, संन्यासियों, वैरागियों, तपस्वियों और आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के दर्शन घर बैठे होने लगे। उन दिनों 'कल्याण' का उतना प्रचार नहीं हो

पाया था। कुछ ही हजारों की सख्या में छपता था। परन्तु लोगों में 'कल्याण' और 'कल्याण'-सम्पादक के प्रति उमड़ती हुई श्रद्धा के दृश्य कई बार देखने को मिल जाते थे। कुछ श्रद्धालु तो ऐसे आते थे, जो प्रेम की मशीनों की आरती उतारते थे। और उनपर चन्दन-फूल आदि चढाते थे। इसे श्रद्धा का अतिरेक कहे या भावुकता या पागलपन? ऐसे-ऐसे दृश्य प्राय: रोज देखने को मिलते, जिस पर हँसी आये बिना न रहे। रग-बिरंगे साधुओं, सन्यासियों, वैरागियों का काफला जब कभी उतर आता, तब हम लोगों के लिए मनोरंजन का साधना जुट जाता। अधिकाश व्यक्ति अपनी जैसी-तैसी हस्तलिखित प्रतियाँ लेकर गीताप्रेस मे छपवाने को दौड़े आते थे। मुझे स्मरण है, अयोध्या के एक संन्यासी महोदयजी स्वचरित आठ-नौ बडी-बड़ी जिल्दों मे 'विचित्र रामायण' की हस्तलिखित प्रतियाँ लेकर आये थे। हम लोगों मे से किसी के पास इतना समय और धर्य नहीं था कि उनकी विचित्र रामायण को आद्योपान्त पढ़ें या उसे सुना जाय; परन्तु पोद्दारजी ने आदि से अन्त तक उनकी पूरी रामायण सुनी और सुनकर प्रसन्नता प्रकट की। भले ही उसे गीता प्रेस मे छापा न जा सका। ऐसे ही, समय-समय पर, बड़े ही अटपटे व्यक्ति आ जाया करते थे। कभी-कभी लोग यह समझते थे कि यहाँ आकर जोर-जोर से कीर्त्तन करने और भावावेश में मूछित हो जाने से 'कल्याण' में विशेष आदरपात्र मनुष्य समझा जायगा। और, इसलिए भी बहुत-से लोग भावावेश और मूर्च्छा का स्वाग रचा करते थे। यह सारी बाते हमलोग समझते थे, परन्तु श्रीपोद्दारजी के उदार व्यक्तित्व में सबके लिए उचित स्थान था और किसी वस्तु को वे विद्रूप नही होने देते थे। समय-समय पर भारतीय संस्कृति और साधना की तलाश में कुछ विदेशी महिलाएँ भी आ जाया करती थीं जिनकी सार-संभाल और देख-रेख का भार प्राय: मेरे ऊपर पड़ता था। कुल मिलाकर 'कल्याण' का जीवन 'विविधविषयविभूषित' होने के कारण काफी रंगीन और दिलचस्प था। मेरा और श्रीगर्देजी का परिवार एक ही मकान में था। ऊपर के हिस्से मे गर्दे जी और मैं नीचे के हिस्से में। इसलिए श्रीगर्देजी के साथ मेरे चौबीसों घण्टे बीतते थे और मुझे बराबर यह अनुभव होता था कि मैं अपने पिता की छाया मे हूँ। गर्देजी का वात्सल्य-स्नेह कभी जीवन में भूलने का नही। और आज जब वे नहीं है, तब मुझे ऐसा लगता है कि मैं अनाथ हो गया।

'कल्याण' मे बिताये हुए दस वर्ष जीवन के सर्वोत्तम दस वर्ष थे और उसमे समाज-सेवा, भ्रमण और सन्त-महात्माओं के सत्संग का अपूर्व लाभ मिला। 'भविष्य' में जहाँ विप्लववादियों और क्रान्तिकारियों से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ, 'सनातनधर्म' मे बड़े-बड़े दिग्गज पण्डितों और विद्वानों, विशेषत: मालवीयजी महाराज के अमृत-

मय सत्संग का लाभ मिला, वहाँ 'कल्याण' में आने पर अनेक साधु-महात्माओं और सन्तों के अत्यन्त निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन महात्माओं में स्वामी चिदानन्दजी, श्रीभोले बाबा, श्रीउड़िया बाबा, श्रीहरि बाबा, श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी, श्रीस्वामी एकरसानन्दजी, माँ आनन्दमयी, स्वामी अखण्डानन्दजी और स्वामी शरणानन्दजी मुख्य रूप से सामने आते है। 'कल्याण' में अपने-आप सन्त-महात्मा पधारा करते थे, जिनकी सेवा का सौभाग्य प्रायः मुझे मिला करता था। इसके साथ-साथ गोरखपुर में प्रायः प्रतिवर्ष भयंकर बाढ़ का आक्रमण हुआ करता था, जिसमें गोरखपुर देवरिया जिले का बहुत बड़ा भू-भाग जलमग्न हो जाता था और हजारों-हजार गाँव राप्ती और सरयू की प्रखर धारा में आ जाते थे। ऐसे अवसरों पर गीताप्रेस -सेवादल की ओर से बड़े व्यापक स्तर पर 'रिलीफ' कार्य होता था, जिसका कुछ दायित्व मुझे सभालना पड़ता था और ऐसे अवसरों पर महीनों नाव लेकर पानी मे रहना पड़ता था और जलमग्न गाँव मे घूम-घूमकर अन्न, वस्त्र, तेल और दियासलाई, दवा-साबूदाना आदि का वितरण करना पड़ता था। यह कार्य मुझे प्रिय था और ऐसा लगता था कि भक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ भी उपदेश हमने सुना है, वह सब इस सेवा के द्वारा सार्थक हुआ है।

एक बार की घटना है कि ऐसे ही दिन-भर काम कर चुकने के बाद थककर चूर-चूर होकर सरयू के किनारे रेत पर एक कम्बल बिछाकर मैं सोया हुआ था। चाँदनी रात थी और रात के लगभग दो बजे होंगे। मैं क्या देखता हूँ कि चारों ओर से पन्द्रह-बीस डाकुओं ने लाठी, गड़ाँसे और भाले के साथ मुझे घेर लिया है। मेरी नींद खुली और मैं सकपकाया। परन्तु, न जाने कहाँ से इतना साहस मुझमें आया कि मैंने खड़े होकर पूछा कि आपलोगों का 'सरदार' कौन है? सरदार का पता लग जाने पर मैंने उसे अपने कम्बल पर बिठा लिया और बड़े प्रेम से यह समझाने की कोशिश की कि बड़ी नाव पर जो कुछ भी अन्न-वस्त्र कम्बल आदि भरे हुए हैं, वे सब गरीबों में बाँटने के हैं। इसमें से तुमलोग कुछ भी ले जाओगे तो उन गरीबों की आह तुम्हारे बाल-बच्चों पर पड़ेगी। करीब पन्द्रह-बीस मिनट तक मैं भावावेश में उस 'सरदार' से बोलता गया और वह तथा उसके दल के लोग ध्यान से सुनते रहे। थोड़ी ही देर के बाद मैं क्या देखता हूँ कि उन खूँखार जीवों के भीतर से 'भगवान्' जग गया है और मेरी बातों का उनके ऊपर बहुत गहरा असर पड़ गया है। जो लाठियाँ, भाले और गड़ाँसे ताने खड़े थे, वे चुपचाप रेत पर बैठ गये और मेरी बातें ध्यान से सुनने लगे। मैंने उनसे कहा कि मेरे पास अपनी रक्षा के लिए छड़ी की कौन कहे, एक छाता भी नहीं है और मैं भगवान् के भरोसे सर्वथा निश्चिन्त और निर्भय

विचर रहा हूँ। उस रात मैं सर्वथा अकेले था। नाव पर मल्लाह सोये हुए थे और बगल मे मेरा नौकर झूमर। मेरी बातों का डाकुओं पर इतना गहरा असर पड़ेगा, इसे देख मैं स्वयं आश्चर्य में पड़ गया। अन्त में, उनके सरदार ने बड़ी नम्रता और श्रद्धा के शब्दों में कहा कि आखिर हमलोग भी तो गरीब ही हैं और यदि गरीब न हुए होते, तो इस रात मे आपके पास क्यों आते ? मैंने उन सभी को एक-एक मन अन्न, एक-एक धोती, एक-एक कम्बल और पाँच-पाँच रुपये देकर विदा किया और जब वे जाने लगे, तब मैंने उनसे बड़े जोर से 'सियावर रामचन्द्र की जय' कहलवाया।

बंगाल मे जिन दिनों भयकर अकाल पड़ा हुआ था, वहाँ रिलीफ पहुँचाने के लिए गीताप्रेस की ओर से बीस-बाईस वैगन गेहूँ खरीदने के लिए मैं पंजाब के बहावलपुर स्टेट मे गया था। बहावलपुर स्टेट का मैनेजर एक अँगरेज था, जिसका नाम शायद 'शाइक्स' था। वह हिन्दुस्तानियों को, हिन्दुस्तानी लिबास को, खासकर खादी को, बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था। कई ऐसे अवसर आये थे, जब उसने खादी पहने हिन्दुस्तानियों को तमाचे लगा दिये थे और कान पकड़कर अपने कमरे से बाहर कर दिया था। सारे स्टेट में वह जल्लाद समझा जाता था और लोग उसके नाम से थर-थर काँपते थे। परन्तु, बहावलपुर का नवाब उसको बहुत मानता था। इसीलिए वह मैनेजर की गद्दी पर बना हुआ था। ऐसे ही व्यक्ति से मुझे मिलना था। लोगों ने लाख समझाया कि मुझे खादी के धोती-कुरते मे उससे नहीं मिलना चाहिए, नहीं तो भय है कि कहीं वह 'शूट' कर देगा। मैं अपने सहज भाव मे अपना कार्ड भेजकर उससे मिला। आरम्भ मे दो-चार मिनट तक सिर से पैर तक, पैर से सिर तक वह मुझे लाल-लाल आँखों से देखता रहा और बैठने तक को नही कहा; परन्तु मैं पूरी निर्भीकता के साथ और सहज प्रसन्नता के साथ उससे अपनी बातें कह गया। थोड़ी देर के बाद वह जाने क्यों इतना प्रभावित हुआ कि उसकी सारी कठोरता गल गई और उसने मुझे अपनी गाड़ी मे बिठाकर नवाब से मिलाया और पच्चीस डब्बे गेहूँ खरीदने की इजाजत तत्काल हाथों-हाथ मिली। कहना न होगा कि एक सप्ताह के अन्दर ही पचीस डब्बे गेहूँ नवद्वीप पहुँचाकर भूख से व्याकुल लोगों की सेवा और सहायता बड़े समय से हो सकी।

'कल्याण' के दस साल आज दस दिन की तरह लग रहे है। सबसे अधिक मोहक एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी का है, जिन्हें हमलोग श्रद्धा और प्यार से 'भाईजी' कहते हैं। 'कल्याण' में रहते हुए पतन के कई ऐसे अवसर आये, जब मैं नरक मे पूरी तरह उतर चुका था, परन्तु भाईजी ने अपनी दोनों भुजाएँ बढ़ाकर वैसे ही उठा लिया, जैसे माँ अपने बच्चे को उठा लेती है और आश्चर्य यह है कि सब कुछ जानकर भी भाईजी के मन मे क्षण-भर के

लिए भी मेरे प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव नहीं आया। कमजोर व्यक्तियों के प्रति उनमें विशेष स्नेह और आग्रह होता है। क्षमा में तो वे पृथ्वी के समान हैं और गम्भीरता में समुद्र की तरह। ऐसे व्यक्ति के साथ लगभग दस वर्ष रात-दिन रहने का सौभाग्य किसी पूर्वजन्म के पुण्योदय से ही हुआ होगा।

परन्तु, सभी स्थिति और परिस्थितियों का, चाहे वह भली हो या बुरी, एक दिन अन्त आ ही जाता है। सन् १९४२ ई० की अगस्त-क्रान्ति में देश धू-धू कर जल रहा था और ऐसी अवस्था में मैं चुपचाप 'कल्याण' में बैठा रहूँ, मुझसे सहा न गया। उन दिनों 'कल्याण' का सम्पादकीय विभाग रतनगढ़ (बीकानेर) राजस्थान में था। 'माँ' का आह्वान सुनकर मैं विह्वल हो उठा और 'कल्याण' को अन्तिम नमस्कार कर आन्दोलन में कूद पड़ा। जीवन की धारा एक दूसरी ही दिशा में प्रवाहित होने लगी। परन्तु फिर भी, 'कल्याण' का मेरे प्रति और मेरा 'कल्याण' के प्रति इतना घनिष्ठ और मधुर सम्बन्ध है कि मैं आज भी 'कल्याण-परिवार' का ही एक अन्यतम सदस्य हूँ।

अपने सम्पादकीय जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मैं पूज्यश्री भाईजी (कल्याण-सम्पादक श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार) का सुमधुर सान्निध्य एवं उनकी जन्मभूमि रतनगढ़ (बीकानेर) राजस्थान का प्रवास मानता हूँ। रतनगढ़ प्रवास ने मुझे कितना आनन्द दिया है!

प्रातःकाल ३-३॥ का समय। उनींदी, अलसाई हुई आँखों ने खिड़की के बाहर झाँका। रतनगढ़ है...रतनगढ़। ठंडी-ठंडी हवा प्रातःकाल की ठंडी बालुओं का स्पर्श करती हुई आ रही थी। रतनगढ़ का छोटा-सा, ठिगना-सा स्टेशन। लताएँ दीवार और छतों पर हवा के झोंके में झूम रही हैं। बड़ा भला और सुहावना लग रहा है सारा दृश्य। रेत उड़-उड़कर शरीर को चूम रही है, चारों ओर बालू ही-बालू, और उसमें ये हरी हरी लहलहाती हुई लताएँ। कितनी प्यारी, कितनी सुखद!

स्टेशन से बाहर होते ही चुंगीघर। देशी रजवाड़ों को चुंगी या जकात से बहुत बड़ी आमदनी है। अकेले बीकानेर-राज्य को चुंगी से बीस लाख की वार्षिक आय है। इन चुंगीघरों में अपनी सारी चीजें दिखलानी पड़ती हैं। एक-एक छोटी-से-छोटी चीज भी चुंगीवालों की दृष्टि को धोखा नहीं दे सकती। परन्तु, अपने राम को इस चुंगी से क्या करना था; दिखलानेवाले सज्जन तो यहीं के थे। अतएव, हमलोग चुंगीघर के सामने कुएँ पर चले गये।

मारवाड़ में कुएँ एक खास चीज हैं और उनके बनाने में साधारणतः दस-बारह हजार रुपये लग जाते हैं। एक तो पानी बहुत नीचे फूटता है, दूसरे उनकी जगत भी बहुत अधिक विस्तृत होती है और चारों कोने पर ऊँचे-ऊँचे कंगूरे होते हैं। जगत

शोभा आँखों को लुभाने लगी। आँखें चाहिए, हृदय चाहिए, सौन्दर्य कहाँ नहीं है? प्रकृति की गोद कहीं भी सूनी नहीं है, माता वसुन्धरा का हृदय सर्वत्र रागपूर्ण है। चाहे जहाँ चले जाइए, आकाश अपनी छाया में और पृथ्वी अपनी गोद में समान रूप से आपके लिए स्वागत करने को उल्लसित है।

रतनगढ़ बालू की पहाड़ियों से घिरा हुआ एक छोटा-सा, सुन्दर चौदह-पन्द्रह हजार की आबादी का साफ-सुथरा कसबा है। बालू की ये पहाड़ियाँ, जिन्हें यहाँ 'टीबे' कहते हैं, नगर को अपने आलिंगन-पाश में बाँधे हुए हैं। ये टीबे प्रातः और सायं ध्यानमग्न गैरिकवसनाच्छन्न संन्यासी की तरह लगते हैं। बालू का रंग ताँबे का-सा है और काफी चढ़ाव-उतार है, जिसके गर्भ में हाथियों के झुण्ड भी छिप सकते हैं। इनपर नंगे पैर चलने में बड़ा आनन्द आता है, ऐसा मालूम होता है कि आप स्प्रिंगदार गद्दे पर चल रहे हों। कहीं लेट जाइए, कपड़ों पर कोई धब्बा नहीं। चाँदनी रात में इनपर फिसलने, स्केटिंग करने में अपूर्व सुख मिलता है। शिखर पर लेट जाइए, फिसलती हुई बालू आपको सर्-सर्-सर् नीचे फिसलवाती जायगी और इस रेणुराशि पर वायु की क्रीड़ा तो देखते ही बनती है। समुद्र में जैसे हवा प्यारी-प्यारी लहरें उठती हैं, वैसे इन बालुओं पर भी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ बड़ी सुहावनी लगती हैं और उनपर की गई काले-काले कीड़ों की चित्रकारी! ये कीड़े खूब तेज दौड़ते हैं और उनके पैरों की छाप से ऐसे सुन्दर-सुन्दर बेल-बूटे तैयार हो जाते हैं कि कुछ पूछिए नहीं।

सावन-भादों के महीने विरहिणियों के लिए बड़े ही दाहक होते हैं और इस सूखे-से देश में जब मेघ गरजते जा रहे हों, मोर पीऊ-पीऊ की टेर लगा रहे हों, उस समय विरहिणी की क्या दशा होती होगी, इसका अनुमान हृदयवान् व्यक्ति ही लगा सकता है। ऐसे ही समय यहाँ स्त्रियाँ एक बड़े ही करुण स्वर में गाती हैं—

सावण खेती भँवरजी थे. करी जे
हांजी ढोला! भादूड़े कर जो दीनाण।
सीटाँ री रुत छाया भँवरजी! परदेश में.जो!
ओ जी म्हारा घणाँ कमाऊ उमराव।
थारी पियारी ने पलक न आवड़े जी॥
ऊजड़ खेड़ा भँवरजी! फेर बसे जी,
हाँ जी ढोला! गिरधर के धन होय।
जोवन गये पटे कना बावड़े जो
ओ जी थाने लिखूँ बारम्बार।
जल्दी घर आओ जी क थारी धण एकली जी!

इतनी चौड़ी होती है कि सैकड़ों आदमी एक साथ नहा सकते हैं। मारवाड मे रात के तीसरे पहर उठ कर माली लोग कुएँ से पानी निकालने लगते है। उस समय वे जोर-जोर से चिल्ला कर वडे ही मनोहर गीत गाते है, जो कुएँ मे प्रतिध्वनि होकर 'एक अपूर्व मादकता की वर्षा करने लगती है। पिछली रात मालियों के ये गीत बहुत दूर तक सुनाई पड़ते हैं और चाहे आप इनका अर्थ न समझें, परन्तु प्राण को वह स्वर-हिलोर बहुत ही प्रिय लगती है। और, जलभरी मोट जब ऊपर आती है, तब कुएँ की जगत पर खडा आदमी बड़े उल्लास के साथ कहता है 'आ . . . यो . . .'। अर्थात्, जल ऊपर आ गया, बैलों को लौटा लाओ। बड़ी देर तक कुएँ पर खड़े-खड़े यह दृश्य हमलोग देखते रहे।

लगभग तीन घण्टे मे चुगीघर से छुट्टी मिली। सामान 'बहली' पर रखा गया। बहली यहाँ की बड़ी ही सुन्दर सवारी है। जैसा रथ राष्ट्रपति श्रीसुभाषचन्द्र बोस के लिए हरिपुरा मे तैयार हुआ था, ठीक उसी तरह की चीज यह होती है। दो बैल लगते हैं। तीन आदमी आराम से बैठ सकते हैं। पहिये चौड़े-चौड़े होते हैं, ताकि बालू में न धँसे। बैल भी यहाँ के खूब हट्टे-कट्टे और तगड़े होते हैं। हाँकनेवाला चाबुक का प्रयोग बहुत कम करता है। प्यार से, मस्ती में गीत गाता जाता है, बैल उत्साह से आगे बढ़ते जाते है। गले में बँधी हुई घण्टियो का सुहावना स्वर एक अनोखा रोमास भरता है।

हमलोगों के ठहरने के लिए जो धर्मशाला ठीक की गई थी, उसे धर्मशाला कहना अनुचित होगा। वह तो युनिवर्सिटी होस्टल का एक लघु संस्करण थी। अलग-अलग 'Single Seated' कमरे, बिजली की बत्तियाँ, बीच मे चौड़ा-सा सुहावना आँगन, सामने द्वार पर पीपल का एक छायादार विशाल वृक्ष। शहर से अलग, निराला स्थान। गोरखपुर से साथ ही आये हुए रसोइये और नौकर; एक माली-परिवार जल भर देने के लिए! और चाहिए ही क्या?

सावन की शुक्ला एकादशी के दिन यहाँ हमारे श्रीचरण पड़े। उस दिन फलाहार ही करना था, इसलिए हम सभी भोजन की ओर से उदासीन थे। निकले घूमने के लिए। कुछ ही दूर गये कि झुण्ड-के-झुण्ड मोर पंख पसारे नाच रहे हैं। कुछ आगे बढे, तो देखा कि दुलकते हुए ऊँटों की सेना आ रही है। उन पर घूमघुमाव घाँघरेवाली स्त्रियाँ तथा पेंचदार पगड़ीवाले पुरुष! सोचा, इस देश को क्या कहूँ? नाचते हुए मोरों का देश, दुलकते हुए ऊँटों का देश, अथवा घाघरेवाली स्त्रियों और पगड़ीवाले पुरुषों का देश। वस्तुतः, ये चारों चीजें यहाँ की 'खास' कही जा सकती है।

सुजला, सुफला, शस्यश्यामला भूमि के प्राणी इस निर्जला, निष्फला, रेणुराशि-संकुला भूमि मे पहले तो कुछ अनमने-से दीखे, परन्तु धीरे-धीरे यहाँ की एक-एक

शोभा आँखों को लुभाने लगी। आँखें चाहिए, हृदय चाहिए, सौन्दर्य कहाँ नहीं है? प्रकृति की गोद कहीं भी सूनी नहीं है, माता वसुन्धरा का हृदय सर्वत्र रागपूर्ण है। चाहे जहाँ चले जाइए, आकाश अपनी छाया में और पृथ्वी अपनी गोद में समान रूप से आपके लिए स्वागत करने को उल्लसित है।

रतनगढ़ बालू की पहाड़ियों से घिरा हुआ एक छोटा-सा, सुन्दर चौदह-पन्द्रह हजार की आबादी का साफ-सुथरा कसबा है। बालू की ये पहाड़ियाँ, जिन्हें यहाँ 'टीबे' कहते हैं, नगर को अपने आलिंगन-पाश में बाँधे हुए हैं। ये टीबे प्रातः और सायं ध्यानमग्न गैरिकवसनाच्छन्न संन्यासी की तरह लगते हैं। बालू का रंग ताँबे का-सा है और काफी चढ़ाव-उतार है, जिसके गर्भ में हाथियों के झुण्ड भी छिप सकते हैं। इनपर नंगे पैर चलने में बड़ा आनन्द आता है, ऐसा मालूम होता है कि आप स्प्रिंगदार गद्दे पर चल रहे हों। कहीं लेट जाइए, कपड़ों पर कोई धब्बा नहीं। चाँदनी रात में इनपर फिसलने, स्केटिंग करने में अपूर्व सुख मिलता है। शिखर पर लेट जाइए, फिसलती हुई बालू आपको सर-सर-सर नीचे फिसलवाती जायगी और इस रेणुराशि पर वायु की क्रीड़ा तो देखते ही बनती है। समुद्र में जैसे हवा प्यारी-प्यारी लहरें उठती हैं, वैसे इन बालुओं पर भी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ बड़ी सुहावनी लगती हैं और उनपर की गई काले-काले कीड़ों की चित्रकारी! ये कीड़े खूब तेज दौड़ते हैं और उनके पैरों की छाप से ऐसे सुन्दर-सुन्दर बेल-बूटे तैयार हो जाते हैं कि कुछ पूछिए नहीं।

सावन-भादों के महीने विरहिणियों के लिए बड़े ही दाहक होते हैं और इस सूखे-से देश में जब मेघ गरजते जा रहे हों, मोर पीऊ-पीऊ की टेर लगा रहे हों, उस समय विरहिणी की क्या दशा होती होगी, इसका अनुमान हृदयवान् व्यक्ति ही लगा सकता है। ऐसे ही समय यहाँ स्त्रियाँ एक बड़े ही करुण स्वर में गाती हैं—

सावण खेती भँवरजी थे. करी जे
हाँजी ढोला! भादुड़े कर जो दीनाण।
सीटाँ री रुत छाया भँवरजी! परदेश में जी!
ओ जी म्हारा घणाँ कमाऊ उमराव।
थारी पियारी ने पलक न आवड़े जी॥
ऊजड़ खेड़ा भँवरजी! फेर बसे जी,
हाँ जो ढोला! गिरधर के धन होय।
जोबन गये पटे कना थावड़े जी
ओ जी थाने लिखूँ बारम्बार।
जल्दी घर आओ जी क थारी धण एकली जी!

अर्थात्, सावन में तुमने खेती की थी और भादों में निराया था। जब भुट्टे खाने का समय आया, तब तुम परदेश में हो। हे मेरे बहुत कमानेवाले राजा! अब घर आओ, तुम्हारी प्यारी को पल-भर भी चैन नहीं पड़ता। हे पति, गांव उजड़कर फिर बस जाता है, निर्धन को धन भी हो जाता है, पर गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता। हे मेरे प्राणाधार! मैं तुमको बारबार लिखती हूँ। जल्दी आओ तुम्हारी प्यारी अकेली है।

ये गीत सुनने में बड़े ही प्यारे और मीठे लगते हैं, मेघ आकाश में मचल रहे हों, मोर उनकी तान पर प्राणों की तान मिलाकर नाच रहे हों, बालू की टीपड़ियों के बीच से एक पतली-सी पगडंडी जा रही हो, बालू की ऊपरी तह रिमझिम मेहों से तर हो गई हो, उस पर रंग-बिरंगे घांघरे और ओढ़नी से सजी हुई स्त्रियां विरह के गीत गाती हुई निकल रही हों, उस समय आपके प्राणों में कैसी गुदगुदी उठेगी, कोई बतला सकता है? आप इन गीतों के स्वर से अपरिचित होने के कारण इनके भीतरी भाव को पूरा-पूरा भले ही न समझ सकें, परन्तु इनकी स्पष्ट प्रेरणा आपके सूखे घाव को हरा कर देती है! इसीलिए कवि ने कहा है—

Heard melodies are sweet
Those unheard are sweeter still.

जिन दिनों हम लोग रतनगढ आये थे, उन्हीं दिनों बीकानेर-नरेश स्व० महाराज गंगासिंहजी की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही थी और उसके उपलक्ष में यहाँ की मुसलमान औरतें 'जंगलधर बादशाह' के जयजयकार के गीत गाते हुए जुलूस निकालती थीं। इनके गाने खड़ी बोली में गजल की तर्ज पर होते हैं। बीच-बीच में मारवाड़ी पुट होता है। इनकी वेष-भूषा हिन्दू-स्त्रियों से कुछ भिन्न होती है। ये प्रायः घांघरा खास-खास पर्व-त्योहारों पर या कहीं मायके-ससुराल जाते समय ही पहनती हैं, नहीं तो रंगीन चूड़ीदार पाजामा, घुटने को छूता हुआ भगजीदार आधी बांह का पंजाबी कुरता और उस पर से मलमल की एक रंगीन ओढनी। इनके कपड़ों पर गोटे-तार बहुत कम लगते हैं। विशेष अवसरों पर ये रंग-बिरंगे गोटेदार और मोती-लगे लँहगे पहनती हैं और कीमती ओढ़नी भी ओढती हैं। इनके गहने पैरों के कड़े और हाथ के बाजूबन्द होते है और वे भी चांदी के ही। परन्तु, हिन्दू-स्त्रियों की वेष-भूषा बहुत ही खर्चीली और इस कारण महँगी है। सिर से कमर तक सोने से गुँथी रहती हैं। पैरों में कड़े और छल्ले की कोई गिनती नहीं। इनके लहँगे और ओढ़नी भी बहुत ही बेशकीमती होती हैं। हिन्दू-स्त्रियों का पहनावा ठीक ब्रज की स्त्रियों का-सा है।

पुरुषों के पहनावे में घुटनों तक छूती हुई दोनों लाँग बँधी हुई रजपूती धोती, कमर तक लटकती हुई मिरजई और सिर पर पेंच खाती हुई शरबती या गुलाबी या कुसुम्बी रंग की तिरछी बाँकी पगड़ी। पगड़ी ही यहाँ की विशेष शोभा है और इस पगड़ी के द्वारा ही आप पहचान सकते हैं कि यह सज्जन उदयपुर के हैं या जोधपुर के, शेखावाटी के हैं या राजगढ़ के। इतना ही नहीं, स्वयं बीकानेर-राज्य में ही कई शैलियों की पाग बँधती है; बीकानेर की अलग है, रतनगढ़ की अलग और चुरू की अलग। ये पगड़ियाँ बहुत पतली कई गज लम्बी होती हैं और इन्हें बाँध लेना आसान बात नहीं है। हमलोग तो उसमें उलझ ही जायँ।

और, उसी रतनगढ़ से विदा के समय मन में कितनी गहरी उदासी भर गई थी!

आज चलते समय वातावरण में इतना मधु क्यों उमड़ा पड़ता है? पूरे पन्द्रह महीने होने को आये, फागुन के दिन थे, जब हमलोग यहाँ आये थे और अब यह दूसरा वैशाख निकल रहा है। कभी तो इतनी मादकता, इतना स्नेह, इतना आकर्षण प्राणों में नहीं भरा, आज चलने की बारी आई तो यह नशा। भर आँख देख लेने के लिए प्राण विकल हो रहे हैं—भय है, फिर आना हो, न हो। अरे, मैं चारों ओर से रूप और रस से भरा क्यों जा रहा हूँ—किसी ने रूप की बाती उसका दी है, किसी ने रस के सागर में लहरें उठा दी हैं और मैं एक तिनके की तरह इसमें यहाँ-वहाँ डोल रहा हूँ।

रोज ही तो यह सब देखता था, परन्तु आज के देखने में कुछ और ही राज है। रोज ही तो छत पर से उतरकर मोर और मोरनियाँ आँगन में आती थीं और मोरनी को केन्द्र बनाकर मोर अपने पंख पसारकर विविध भावभंगिमाओं से नाचा करते थे। परन्तु, आज इनके नृत्य में एक अजीब आकर्षण छा रहा है। जी चाहता है, देखता ही रहूँ, देखता ही रहूँ। रोज-रोज देखने से जो दृश्य 'साधारण'-से हो चले थे, उनमें आज एक अपूर्व विशेषता कहाँ से आ गई है क्यों आ गई है? मेरे जाने के उपलक्ष में प्रकृति ने रूप का जाल क्यों बिछा दिया, रस का गागर क्यों छलका दिया? और, कैसी विचित्र बात है यह? पुरुष और स्त्री की रचना में—सौन्दर्य की दृष्टि से, विधाता ने स्त्री-जाति के प्रति पक्षपात किया। यह हम सभी मानते हैं, जानते हैं—स्त्रियाँ भी दबी जुबान, पर खुले दिल इसे स्वीकार करती हैं। परन्तु, मोर और मोरनी को रचते समय, ऐसा लगता है कि विधाता की आँखें खुलीं और उन्होंने अपने सारे पक्षपात का प्रायश्चित्त कर, सारा कसूर यहीं मिटाने की चेष्टा की है। मोर जितना ही सुन्दर और सुहावन, मोरनी उतनी ही कुरूप और भोंड़ी। उसे न सुन्दर पंख और न सिर पर कलँगी। कलँगी न होती, न होती; पर पाँखें, इतनी सुन्दर, मोहक पाँखें, सौन्दर्य की चरम सीमा, जगत् के सौन्दर्य में अद्वितीय, लामिसाल, लाजवाब पाँखें

मोरनी को न मिलकर मोर को मिली। मोरनी की भूरी-भूरी पाँखें, मटमैली-सी, कतरी हुई-सी; और तो और, आँखें भी मोर की-सी नशीली नहीं, एकदम आकर्षणहीन। रूप और रंग दोनो से ही रहित वह मोरनी फिर भी मोर की रानी बनी हुई है और बड़े उल्लास के साथ मोर अपनी रानी को प्रसन्न करने के लिए उसके इशारे पर नाचा करता है। एकटक अपनी रानी को देखा करता है और कभी-कभी अपनी फैली हुई पाँखों से उसे छेड़ता भी है और फिर-फिर छेड़ता ही जाता है। मोरनी इस 'कोर्टशिप' का भाव समझती है, नखरे करती है, पल्ला छुड़ाकर भागना भी चाहती है कि मोर उसे फिर घेर लेता है। वह नाचता है, नाचता ही जाता है। एकमात्र अपनी प्रणयिनी को रिझाने के लिए। दुनिया की आँखें भी इस नृत्य पर रीझती हैं, तो रीझें। और, शायद आपने सुना हो—मोरो की सृष्टि अमैथुनी होती है। मोर नाचते-नाचते जब आनन्द मे विभोर हो जाता है तो उसकी आँखों से प्रेमाश्रुओं की धाराएँ बहने लगती हैं और उसी आँसू को पीकर मोरनी गर्भवती हो जाती है। विधाता की सृष्टि मे विचित्रताओं की कोई गिनती है! साल मे मोरों के पंख एक बार झड़ जाते हैं और जाड़े के आरम्भ मे नये-नये कोपल निकल आते हैं। कलँगी भी नये सिरे से उगती है। मुँडेरे पर बैठकर मोर जब अपने पंखों को अपनी चोंच से सुधारता है, तब ऐसा मालूम होता है कि कोई स्त्री अपनी केशराशि को अपनी कोमल-कोमल अँगुलियों से सुलझा रही है।

तो, आज इनके नृत्य को मैं इतनी ललचाई हुई आँखों से देख रहा हूँ और देख-कर आँखें अधिकाधिक देखना ही चाहती हैं—थकती नहीं, अघाती नहीं। फिर, यह मयूरलास्य कहाँ मिलेगा देखने को?

और, यह द्वार पर पीपल का जो महान् वृक्ष खड़ा है, इसने क्या यहाँ के जीवन मे कम मिसरी घोली है? 'अस्ति गोदावरीतीरे विशाल. शाल्मलीतरु.' हम बहुत पहले पढ़ चुके थे, परन्तु 'अस्ति मरुमहादेशे विशाल अश्वत्थतरु.' तो सामने मूर्तिमान् खड़ा है, जिसमे सचमुच 'नानादिग्देशादागत्य पक्षिण: निवसन्ति स्म', नाना देशो से आ-आकर पक्षी निवास करते हैं—मोर-मोरनी, कबूतर-कबूतरी, गौरया और गौरई, उसकी प्राणप्रिया हृदयेश्वरी! सारस की जाति के, बत्तक की जाति के, जटायु के भाई-बन्धु, और अपने यहाँ की 'धोबिन' और 'कठखोलवा' की जाति के छोटे-बड़े पक्षी यहाँ सुख से निवास करते हैं—'दीरघ दाघ निदाघ' ने सचमुच इस पान्थशाला के इस महान् पीपलवृक्ष को एक तपोवन बना दिया है। और, इसके 'चहचहाते चिड़ियाघर' से इस धर्मशाला-रूपी वृक्ष अथवा वृक्ष-रूपी धर्मशाला की शोभा कितनी मुखरित-उद्वेलित होती रहती है! इनका मिश्रित कलरव और प्रभाती गान कितना सुहावना, कितना मोहक और मीठा होता है। और, जब हम चलने को तैयार हुए,

वार रुक न जाय, अपनी गति धीमी न कर ले, अपनी आँखें ठंडी न कर ले। और, मुझ-जैसा परदेशी प्राणी, जो एक प्रकार से पानी का ही जन्तु है, जो गंगा-यमुना, सरयू-सोन में तैरते-तैरते कभी थका नही, वह पानी के इस ठंडे शीतल दृश्य को लाँघकर आगे कैसे बढ़ जाय? पानी भरना यहाँ एक महान् मांगलिक कृत्य है। घड़ों पर जो चित्रकारी होती है, वह भी, विशेषत. जब घड़े पानी से भरे हुए होते हैं, खिलकर इतनी मोहमयी हो उठती है कि जी चाहता है उसे देखते ही रहें।

मेरे पाठक भले ही अधीर हो रहे हों और वे पुदीने की क्यारी तथा छलकती हुई गगरियों और झूम खाती हुई पनिहारिनों के सम्बन्ध मे विशेष जानने के लिए उत्सुक-लालायित हो रहे हो; परन्तु आज तो सारा-का-सारा दृश्य इतना मनोरम हो उठा है कि रूप के बाजार में भूल-सा गया हूँ!

कुएँ से दो कदम भी आगे नही बढ़ा कि नीम का एक पेड़ राह रोके खड़ा है—और, इन्ही दिनो इसमे फूल आने को थे! मैं यहाँ से चला जाता, तब तू फूलता तो तेरा क्या कुछ बिगड़ जाता? परन्तु बाद मे क्यों फूलता, जब मुझपर मोहिनी डालना ही था। ऐ फूल! नीम के ऐ फूल! ओ नीम! तू जितना कड़वा है, तुम्हारे फूल उतने ही मीठे हैं—तू जितना ही गन्धहीन है, तेरे फूल उतने ही सुरभिपूर्ण है। लोग रजनीगन्धा, पारिजात, Queen of the night (रात की रानी), चम्पा, चमेली, जूही, बेला, केतकी, मालती, माधवी आदि कितने नाम गिना जायँगे—एक साँस मे; पर, सचमुच नीम से बढ़कर सुगन्धित कोई पुष्प है? सन्ध्या ज्यों-ज्यों घनी होने लगती है—आकाश मे नक्षत्र और ठीक नक्षत्रों के समान नीम के ये छोटे-छोटे फूल खिलने लगते हैं और रात-भर अपनी मादकता बिखेरते रहते हैं, रात-भर इस खशबू मे स्नान करनेवाले के सामने केवड़े और गुलाब क्या चीज हैं—और क्या चीज है रजनीगन्धा! और, नीम को इतने नाज-नखरे कहाँ हैं—जितने इन सुकुमार पुष्प-लताओं के हैं? नीम के थाले मे कभी पानी भी कोई डालता है? इसकी डालों पर कैंचियाँ कहाँ चलती हैं और इसके आलवाल साक्षात् स्वयं सीमाहीन माता धरित्री है। इस नीम की मीठी-मीठी सुगन्ध हमारी धर्मशाला [हमारी (?) धर्मशाला भी किसी की होती है?] मे छन-छनकर आया करती है और जागते मे जानते हुए और सोते मे मुग्ध शिशु के समान इसका रसपान हम रात-भर करते रहते हैं।

लेकिन, सुगन्ध के गर्भ में कीट भी तो होता है। संसार मे एकमात्र सत्यं शिवं सुन्दरं ही है, परन्तु हम अपनी संकीर्णता के कारण विजडित होकर असत्य, अशिव और असुन्दर को भी देखा करते हैं—मानो दोनों के कारण ही हम जीते हैं। नीम के पेड़ की छाया देर तक विरमा न सकी, रोक न सकी। आगे बढता हूँ, तो फिर कुएँ

की विशाल जगत और उसपर सैकड़ों पनिहारिनें—कोई घड़ा लेकर खड़ी है—कोई सीढी पर है और कोई तीन-तीन जलभरे मटके लिए बालू के पथ से चल खाती चली जा रही है और इसके समीप ही जो यह छोटा-सा पीपल का पेड़ है, उसके नीचे कई दिनों से एक पगली आसन डाले हुए है। साक्षात् महाकाली की मूर्ति है! पास ही चिथड़ों का ढेर लगा हुआ है, जिसे कभी वह ओढ़ लेती है—कभी बिछा लेती है। किसी ने कुछ दे दिया, खा लिया, न दिया, तो फाकामस्ती—एकादशी। उसके लिए धूप-छाँह, जाड़ा-गरमी, सब बराबर है। यह किसी की बेटी, किसी की बहन होगी। सम्भव है, किसी की प्रणयिनी भी हो, माता भी। परन्तु, वे आज कहाँ हैं, और यह कहाँ है! ओ पगली! तू सचमुच भी दुर्गा ही तो है, सबका भक्षण करती जा रही है, फिर भी तुम्हारी जठराग्नि एक क्षण के लिए शान्त न हुई! पाठक सोच रहे होंगे, मैं उन्हें कहाँ बहका लाया। परन्तु, आज तो सब कुछ सुहावना-ही-सुहावना लग रहा है। यह पगली भी अब देखने को कहाँ मिलेगी? आज इसे भी एक बार अन्तिम 'नमस्कार' कर लूँ।

आज डॉक्टर साहब के यहाँ नहीं रुकना है, यद्यपि पूर्वी फाटक लाँघते ही ठेठ दरवाजे पर इनका घर है। इनकी मन्द-मन्द मुस्कान बराबर याद आयगी। आज अपने शरीर के सम्बन्ध में इनसे कोई चर्चा नहीं करनी है, यद्यपि ये अपने स्नेहपूर्ण आग्रह से बाज नहीं आवेंगे। इनकी लाल-पीली दवाइयों, बुकनी, मिक्श्चर आदि को अलविदा। अब उनसे क्या प्रयोजन? आज तो सबको नमस्कार करते आगे बढ़ना है। छोटी-बड़ी दूकानें—पसारियों की, बजाजों की, सुनारों की, लुहारों की। परन्तु, मुझे इनसे क्या लेना है? मेरी दृष्टि तो कोने में दुबके हुए उस बूढ़े मोची पर ठहर गई है। गली में एक दीवार से सटा हुआ यह अपना बोरिया-बस्ता फैलाये बैठा है। बोरिये-बस्ते में कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं है, जिसमें आपका जी ललचे। चाम के पुराने जूते, कुछ टुकड़े, कच्चा धागा, पानी रखने के लिए फूटा हुआ मिट्टी का सिकोरा, मामूली दो-चार औजार। यही है उसकी सारी सम्पत्ति। किसी दिन अच्छी सायत में दूकान खोली, तो चार-पाँच पैसे आ गये, नहीं तो किसी-किसी दिन बोहनी भी नहीं। कई बार इसके यहाँ खड़े होकर मैंने अपनी चप्पलें सुधरवाईं, पर यह बेचारा चप्पल की नजाकत क्या समझे। क्या जाने कि चप्पल शौकीनी की पराकाष्ठा है और उसे सुधारनेवाला चर्मकार (नहीं-नहीं हरिजन!) कलाममंज्ञ चाहिए। भोंड़े ढंग से अपने मोटे-मोटे धागों से उसे सी मारता है—बेदर्दी नहीं का। चप्पल के शरीर में सूआ भोंकते इसे तनिक भी रहम नहीं आती! परन्तु, फिर भी है यह पूरा फिलॉसफर! जिस सुधराई के लिए काशी-कलकत्ता में चार-छह आने मामूली बात है, उसके लिए यह गम्भीर और सीरियस मूड में हुआ,

तो पूरे तीन पैसे माँग बैठता है, नहीं तो दो पैसा तो इसकी बँधी हुई 'स्टैण्डर्ड' माँग है ही।

आप इसके यहाँ चप्पल सुधरवायें, बूट या बाटा के फलाहारी जूते, सबके लिए इसके हृदय में समान भाव है। जूते की अच्छाई-बुराई से वह आगन्तुक की इज्जत नहीं तौलता। वह आपकी ओर देखेगा तक नहीं। आपके पैर की ओर देखकर कहेगा—'कित्तो पिस्सो देस्सी ?' अरे भाई ! 'पिस्से' की क्या बात है, तू सुधार तो सही। परन्तु, वह दार्शनिक जो ठहरा ! फिर आपकी ओर देखेगा नहीं और लग जायगा पानी में डुबोकर धागा पूरने। आपने कभी मोची की दूकान पर तन्मय होकर उसके जूते गाँठने का मनोरम दृश्य देखा है ?

तो, क्या यह पूरा टॉलस्टॉय ही है ? पुराने जूते ही गाँठता है, नये जूते नहीं बनाता ? रैदास की सच्ची स्मृति इसी के अस्थिपंजरों में रह गई है ? अब तो सचमुच यह फिलॉसफर रह गया है; परन्तु कभी जवानी के आलम में इसने जरूर 'छोटी-बडी सुइयाँ रे' गाया होगा, जरूर कभी पीकर मस्ती में 'गोरी धीरे चलो गगरी छलकियो न जाय' अलापा होगा। और, नये जूते ? नये-नये जूते और सेठा-नियों की नरम-नरम मुलायम जूतियाँ, कामदार मखमली जूतियाँ जरूर बनाई होंगी; परन्तु वे सारी बातें यह स्वयं भूल-सा गया है—पूरा फिलॉसफर है जो। शरीर पर गान्धीजी से भी कम कपड़े हैं इसके। लँगोटी है—जो शायद महीनों से धुली नहीं और उसपर इतनी सलवटें पड़ी हुई हैं कि कोई हिसाब नहीं—बस, लज्जानिवारण-मात्र से मतलब है, छपाई-सफाई के दिन गुजर गये हैं।

और इसकी पगड़ी ! शरीर पर कुरता हो न हो, पगड़ी जरूर चाहिए न रजपूतों के इस देश में। इसी रीति के पचड़े में यह भी बेचारा इस पगडी को सिर पर ढो रहा है, जिसे पगड़ी कहना पगडी का गौरव बढ़ाना है। ओ टॉलस्टॉय और रैदास की सच्ची स्मृति ! ओ स्टैलिन के पितृव्य ! आज मेरी वन्दना स्वीकार करो—'प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी !' आज सचमुच यह मुझे स्थितप्रज्ञ सन्त के समान लग रहा है ! और रैदास की—

प्रभुजी तुम दीपक हम बाती।
जाकी जोत बरै सारी राती॥

गुनगुनाता हुआ आगे बढ़ने को तैयार होता हूँ कि रँगरेजों के घर की कतार आ जाती है। इन्हें जब देखो, कुछ-न-कुछ रँगते ही रहते हैं—पुरुष कम, स्त्रियाँ अधिक ! और, इनका रँगना भी तो असाधारण है। बेल-बूटे निकालते हैं, चूनरी में रंग-बिरंगी लहरियाँ निकालते हैं—पगड़ी, लहँगे, चोली, ओढ़नी आदि सभी कुछ यहाँ रँगे

ही जाते हैं। रंग का यहाँ कितना शौक ! स्त्रियों के शरीर पर सादे कपड़े यहाँ देखने को भी नहीं मिलते। ओढ़नी—हल्के आबेरवाँ की होती है, उसमें तरह-तरह के बेल-बूटे निकाले जाते हैं—बड़ी हलकी, बहुत ही सुन्दर! दो अक्षर अँगरेजी पढ़कर मेम बननेवाली 'आधुनिका' इसके सौन्दर्य को क्या समझेगी? और लहँगे! लहँगे तो यहाँ की खास शोभा है।

एक-एक लहँगे में हजार-हजार रुपये लग जाते हैं—क्या-क्या उसपर काम होता है, कैसे-कैसे गोटे-तार-बाँकड़े चढ़ते हैं और उसका धूपछाँही रंग कितना भला लगता है। उसे पहनकर तथा बड़े सलीके से ओढ़नी को डालकर जब मारवाड़िनें बालू के पथ पर चलती हैं तो सहज ही घांघरे में एक विचित्र झूम आ जाती है, और यहाँ की गति में नृत्य का एक अपूर्व आभास मिलता है। मालूम होता है, यहाँ चलना औरतों ने मोरों से सीखा है।

और, यह रँगरेज जिसकी जुल्फें काफी सुन्दर हैं, परन्तु जो है एकाक्ष शुक्राचार्य ही—आते-जाते 'जै रामजी' कहता है। इसमें 'जै रामजी' कहने में कितना सुख मिलता है। मरहूम जनाब कायदेआजम को पता चलता, तो इस सच्चे मुसलमान को 'काफिर' की उपाधि दिये बिना न रहते। लेकिन पाठक! आज इन अप्रिय बातों से अपने को क्या मतलब? आज तो झलक लेकर आगे बढ़ना है; चलने की बारी है, विदा का समय है न! परन्तु जल्दी-जल्दी में एक बात तो कह दूँ, जो मेरे हृदय को इस विदा के समय धूमाच्छन्न कर रही है। यह जो दाहिने हाथ शिवजी का मन्दिर है, आज झाँय-झाँय क्यों कर रहा है? इतना उदास क्यों लग रहा है? जलधारा तो गिर रही है, परन्तु मकड़ियों के जालों और धूप-दीप की कालिख की ओर पुजारियों का कभी ध्यान क्यों नहीं गया? हमारी भक्ति-भावना इतनी शिथिल और हल्की क्यों हो गई कि देवता के शृंगार आदि का तो ध्यान रखें, परन्तु देवता के चारों तरफ फैली हुई गन्दगी की ओर कोई ध्यान ही नहीं? देवस्थानों में तो इतनी पवित्रता, इतनी सफाई और शान्ति रहनी चाहिए कि वहाँ जाने का अपने-आप, बलात् मन हो जाय। उपेक्षा, उदासी और मनहूसियत को किसी देवस्थान में देखकर जी को बड़ा क्लेश होता है, भावों को एक ठेस-सी लगती है।

परन्तु, इसका मार्जन दो कदम आगे बढ़ते ही हो जाता है। एक ओर गत महाशिवरात्रि से अखण्ड श्रीहरिकीर्तन हो रहा है और दूसरी ओर मलंग का स्थान है, जहाँ कई साधु-महात्मा, योगी-यती, उपदेशक और कथावाचक आये और अपने उपदेशों से यहाँ की नर-नारियों को कृतार्थ किया है। झांझ, मृदग, करताल आदि के साथ महीनों से जो घोष हो रहा है, उसमें वातावरण में एक अपूर्व पावन, दिव्य

स्निग्धता आ गई है! भक्ति का यही तो जाग्रत रूप है, जिसके बल पर गोस्वामी जी के स्वर मे स्वर मिलाकर हम गा सकते हैं—**नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।**

सामने बहलियाँ (रथ) खड़ी हैं—सामान रखे जा चुके हैं। आज है कूच, विदाई। स्टेशन की ओर पैर बडी मन्थर गति से बढ रहे हैं। पैरों मे कुछ भारीपन का बोध होता है। चलने को जी नही चाहता। क्यों, परदेश से इतनी ममता क्यों, रे मेरे भोले मन! छोटा-सा यह नगर, चारो ओर से बालू की ऊँची-नीची पहाड़ियाँ कितनी शान्त और कितनी एकान्त है। कितनी ही सन्ध्याएँ इनके शिखरों पर बिताई हैं—और ज्यों-ज्यो रात घनी होती जाती है, चाँदनी छिटकने लगती है, खेत से लौटते हुए ऊँटो और बकरियो के गले की घण्टियों की आवाज धीरे-धीरे मन्द-सी पड़ने लगती है, उस समय ये पहाडियाँ और इनके बीच से निकलनेवाली पगडंडियां सुरम्य हो जाती हैं। शान्ति मूर्तिमान् होकर खड़ी हो जाती है और कभी-कभी तो चारो ओर की निस्तब्धता मे डूबी हुई इन लाल-लाल पहाड़ियों की मालाएँ ऐसी लगती हैं, मानों प्रकृति गैरिकवसना सन्यासिनी का वेश धारण कर गेरुए चादर से अपने शरीर को ढककर ध्यान मे लीन हो रही है! ओ संन्यासिनी माता! तुम्हारे चरणों मे बार-बार प्रणाम है!

× × ×

अपने सम्पादकीय जीवन मे गीताप्रेस के आदि सस्थापक-सचालक श्रीजयदयालजी का स्मरण सहज रूप मे हो आया है; क्योंकि लगभग तीस-बत्तीस वर्ष से इन्हें बहुत निकट से देखने और जानने का सुअवसर मिलता रहा।

विगत वैशाख कृष्ण द्वितीया, १७ अप्रैल, शनिवार को अपराह्न मे, उत्तराखण्ड मे, अपने प्रिय धर्मक्षेत्र-कर्मक्षेत्र ऋषिकेश के स्वर्गाश्रम के गीताभवन मे गीता-मूर्त्ति श्रीमन्त सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका ने शरीर त्याग कर परम प्रयाण किया लगभग अस्सी वर्ष का, एक आदर्श कर्मयोगी का जीवन बिता कर। श्रीगोयन्दकाजी के निधन से भारतीय सस्कृति और साधना की अखण्ड परम्परा का एक सुयोग्यतम लोकसंग्रही गृहस्थ सन्त चला गया, जिसके जीवन का एक-एक श्वास, शरीर का एक-एक रक्तकण भगवान् वासुदेव के गीतामृत से सुवासित एव आलोकित था। लोकमान्य तिलक के बाद गीता का इतना अनन्य निष्ठावान् भक्त शायद हुआ नही। गोयन्दकाजी का सम्पूर्ण जीवन गीता के प्रकाश से प्रकाशित था, गीता के अमृत से ओतप्रोत था। एक शब्द मे कहा जाय, तो वे साक्षात् 'गीता-मूर्त्ति' थे, गीता के सशरीर अवतार ही थे। गीतानुसारी जीवन का ऐसा उदाहरण भारतीय संस्कृति और साधना के इतिहास मे विरल ही है।

राजस्थान के बीकानेर-राज्य के चूरू नगर में सामान्य वैश्यकुल में जन्म, बंगाल के बाँकुड़ा मे व्यापार-क्षेत्र, परन्तु गोरखपुर का गीताप्रेस, कलकत्ता का गोविन्द-भवन, चूरू का ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, ऋषिकेश-स्वर्गाश्रम का गीता-भवन, वृन्दावन, नवद्वीप और चित्रकूट के भजनाश्रम जिसका कर्मक्षेत्र-धर्मक्षेत्र; अखण्ड गंगा के प्रवाह की तरह, सूर्यनारायण की तरह जिसका कर्मयोगी जीवन; लोकसेवा में, लोक-कल्याण में जीवन का एक-एक क्षण; ऐसे थे श्रीमन्त सेठ श्रीजयदयालजी—**वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।**

बहुत बचपन मे ही गीता हाथ लगी, एक सूत्र मिल गया, जिसके सहारे सारे शास्त्र-पुराणों को अधिगत कर लिया। भारतीय संस्कृति और साधना के व्यापक क्षेत्र में जो कुछ भी, जितना कुछ भी, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है, उसे आत्मसात् कर जीवन मे चरितार्थ कर लिया। शास्त्र-चिन्तन चिन्तन-मात्र ही नहीं रह गया, वह जीवन का अविभेद्य अंग बन गया। गीता केवल कण्ठस्थ नही, हृदयस्थ, जीवनस्थ। साँस-साँस में वे गीता ही जिये, गीता मे ही जिये, गीता के लिए ही जिये। गीता का इतना महान् अनन्य अनुरागी अब कहाँ मिलेगा?

और, आश्चर्य होता है उनकी दैनिक चर्या को देखकर। प्रातःकाल चार बजे से रात के ग्यारह-बारह बजे तक अखण्ड भाव से कर्मरत। कही प्रमाद नहीं, आलस्य नहीं, तन्द्रा नही, विश्राम नही, आराम नही, शिथिलता नहीं, उदासीनता नहीं। ऐसा लगता, यह व्यक्ति चिर जागरूक है, सतत सावधान है। जब से होश सँभाला और यज्ञोपवीत-संस्कार से सम्पन्न हुए, नियमपूर्वक दोनों काल की सन्ध्योपासना ठीक समय से करते रहे—प्रातःकाल की सूर्यनारायण के उदय के पूर्व, सन्ध्याकाल की सूर्यास्त के पूर्व। यात्राओं में हों, सभाओं में हो, विचार-विमर्श में हों, बीमार हों, चाहे जहाँ भी हो, जैसे भी हों, सन्ध्योपासना के समय वे सब कुछ छोड़कर एकदम सहसा सन्ध्या में लग जाते और क्या मजाल कि उनकी एक भी सन्ध्या नागा हुई हो। गीता के समान ही सन्ध्योपासना मे उनकी अनन्य निष्ठा थी। प्रातःकालीन सन्ध्या के पश्चात् वे नियमपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीविष्णुसहस्रनाम का पाठ करते और योगासन करते। गीता और सहस्रनाम उन्हें खूब अच्छी तरह कण्ठस्थ थे; परन्तु पाठ की विधि ही है कि ग्रन्थ देखकर पाठ किया जाय और वे विधि के अनुशासन का बहुत कड़ाई के साथ पालन करनेवाले थे। आँखों से कम दीखने लगा था, तो विधिवत् गीता और सहस्रनाम वे सुनते, नियमपूर्वक सुनते। गायत्री और हरिनाम के प्रति भी उनकी वैसी ही अनन्य निष्ठा थी।

कई बातों में उन्होंने अपने लिए नियमों का कवच बना लिया था—भोजन

के सम्बन्ध में, वस्त्र के सम्बन्ध में। भोजन में वे कुल तीन चीजें लेते थे सात्विक भोजन। गोदुग्ध पर उनका विशेष आग्रह था। वस्त्र भी ... बस एक धोती, एक चौबन्दी, एक चादर। कहीं जाना-आना होता, तो ... शरबती रंग की पगड़ी और पैरों में फलाहारी जूते। जब से होश सँभाला ... के जूतों का व्यवहार नहीं किया। विदेशी वस्त्र छुए नहीं, अँगरेजी द... ली नहीं। अँगरेजी दवा-मात्र से उन्हें घृणा-सी थी। गोली, सूई, मि... किसी रूप में भी वे ग्रहण को नहीं तैयार होते। यहाँतक कि कई अवसरों पर ... जाने का खतरा उठा लिया, परन्तु अँगरेजी दवा लेने से साफ-साफ इनकार ... दिया। इतना ही नहीं, स्वजनों को भी अँगरेजी दवा के विष से सर्वथा मुक्त र... कितना विलक्षण था उनका सर्वतोमुखी आत्मसंयम का भाव—ऐसी तपश्चर्या जो सहज ही उनके जीवन का अंग बन गई थी।

श्रीमन्त गोयन्दकाजी एक विशिष्ट मिशन लेकर आये थे और उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन, जीवन की एक-एक साँस को उस मिशन की पूर्ति में होम कर दिया। गीता उनकी समस्त प्रवृत्तियों के केन्द्र में थी और स्वयं गीतानुसारी जीवन बिताया। हजारों व्यक्तियों को उसी पावन पथ पर प्रवृत्त किया, प्रवृत्त कराया। उनके जीवन का कम्पास सदा गीतोन्मुखी रहा। गीता उनके लिए भगवान् की केवल वाणी ही नहीं थी, अपितु भगवान् का दिव्य मंगलमय विग्रह थी, भगवान् का हृदय थी। भगवान् ने अपना गीता-रूपी हृदय गोयन्दकाजी के हृदय में ढाल दिया था और गोयन्दकाजी ने उस अमृत-प्रसाद को पिछले साठ-पैंसठ वर्षों तक दोनों हाथ लुटाया, साहित्य प्रकाशित कर लुटाया, प्रोत्साहनों द्वारा लुटाया। स्वयं अपना वैसा ही जीवन बनाकर लुटाया। गंगा के अजस्र प्रवाह की तरह उनके गीता-प्रवचनों का अजस्र प्रवाह चलता रहा। लगता था, यह व्यक्ति केवल गीता के लिए ही इस पृथ्वी पर आया है।

के साथ। यहाँतक कि अखिलभारतीय तीर्थयात्रा मे १०४-१०५ डिग्री ज्वर और खाँसी आदि के होते हुए भी घनश्यामजी ने सेठजी के अनुष्ठान को सविधि सम्पन्न किया ही। उन्होंने अपने तन-मन-धन को भी अपना नही माना। सब कुछ 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।' समर्पण की मनोहारी मूर्त्ति। गीता-प्रेस के इतिहास में ही क्यों, श्रीगोयन्दकाजी की समस्त प्रवृत्तियों एवं अनुष्ठानों तथा संकल्पों को रूपायित करने में श्रीघनश्यामदासजी का नाम स्वर्णाक्षरों मे लिखा मिलेगा, अमृताक्षरों में। आत्मनिवेदन का सौन्दर्य एवं आनन्द क्या है, कैसा होता है, कोई घनश्यामजी से जाने। और, क्या आश्चर्य कि कुछ साल पहले यही, इसी ऋषिकेश-स्वर्गाश्रम के गीताभवन में घनश्यामजी ने गंगातट पर गोयन्दकाजी की गोद मे अपना शरीर छोड़ा। ऐ मरण! तेरा कितना अनुपम पावन शृंगार उस दिन हुआ था, जिस मृत्यु पर मानव की कौन कहे, देवता भी तरसते होंगे, ईर्ष्या करते होंगे।

यह नि.संकोच स्वीकार करना चाहिए कि घनश्यामजी के बाद गीता प्रेस शनैः-शनैः श्रीहीन होने लगा। घनश्यामजी प्रेस के कर्मचारियों के सच्चे शुभचिन्तक थे। उनके अभाव में वे अपने को अनाथ मानने लगे। गोयन्दकाजी को अनायास किसी को खोजना या पुकारना होता, तो 'घणसाम' की पुकार बैठते। बाद मे होश आता कि उनका घनश्याम तो 'घनश्याम' मे सदा के लिए जा मिला है। घनश्यामजी के जाने के बाद सेठजी का जैसे परम अन्तरंग अनन्य सखा-सचिव-सेवक चला गया। उस अभाव की पूर्त्ति कोई न कर सका, वह बना रहा, सालता रहा।

हाँ, सेठजी की कर्मशक्ति की धारा घनश्यामजी मे जैसे उतरी थी, वैसे ही उनकी भावशक्ति की धारा श्रीपोद्दारजी (पूज्य श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) मे उतरी, उनसे भक्ति की एक मधुर प्रखर धारा बह निकली। श्रीभाईजी ने हरिनाम का रस, लीला का रस बरसाना शुरू किया और हजारों नही, लाखों-लाखों व्यक्तियों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में इस भावराज्य मे प्रवेश कराया। यह कहा जा सकता है कि श्रीभाईजी के कारण ही गीताप्रेस के साहित्य का इतना विकास हुआ और वह सभी क्षेत्रों मे श्रद्धा और सम्मान पा सका, उसका इतना व्यापक प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव हो सका।

आरम्भ में, कहते हैं, श्रीपोद्दारजी ने गोयन्दकाजी को ही सम्बोधित कर—जय दयाल, जय दयाल, जय दयाल देवा—कविता लिखी थी। भगवान् महाविष्णु की पूजा-अर्चा का संस्कार भी सम्भवतः श्रीमन्न सेठजी से ही प्राप्त हुआ होगा। परन्तु, बाद में धीरे-धीरे श्रीपोद्दारजी श्रीराधाकृष्ण के लीलारस मे उतरते गये,

उतरते-उतरते उसी में प्रायः खो गये—'कल्याण' में 'मधुर' एवं राधाष्टमी-उत्सव-समारोह इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

स्वामी श्रीरामसुखदासजी को श्रीमन्त सेठजी का वैराग्य-तत्त्व मिला। कई बातों में—विचार में, आचार में, उच्चार में, प्रचार में, प्रवचन में। स्वामी रामसुखदासजी सेठजी की 'कार्बन-कॉपी' या 'प्रतिच्छवि' प्रतीत होते हैं—वैसे ही बैठना, वैसे ही 'नारायण, नारायण, नारायण' की नामधुन, गीता की गहराई में उतरने की वही दक्षता, उसकी बारीकियों का वैसा ही सूक्ष्म विश्लेषण एवं उद्घाटन। लगता है, सेठजी ने अपना सारा ज्ञान घोलकर स्वामीजी को पिला दिया है, परन्तु फिर भी सेठजी सेठजी थे, स्वामीजी स्वामीजी हैं।

यों, सेठजी को सारी गीता याद थी और उसके एक-एक श्लोक प्रिय थे; परन्तु फिर भी कुछ श्लोक विशेष प्रिय प्रतीत होते थे, जिनमें से स्वयं श्रीमन्त सेठजी का अन्तर्जीवन झाँकता था।

श्रीमन्त सेठजी के लिखे अनेक ग्रन्थ हैं—तत्त्वचिन्तामणि (सात भाग), परमार्थपत्रावली, आत्मोद्धार के साधन, ज्ञानयोग का तत्त्व, प्रेमयोग का तत्त्व, भक्तियोग का तत्त्व, कर्मयोग का तत्त्व, महत्त्वपूर्ण शिक्षा, परमसाधन आदि-आदि। परन्तु, उनकी सबसे प्रिय कृति है 'गीतातत्त्वविवेचनी'। एक बार ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, चूरू में सेठजी ने स्वयं भाषण में स्वीकार किया था कि संस्कृत का पठन-पाठन तथा आयुर्वेद उन्हें विशेष प्रिय है। एक बार ऋषिकेश के सत्संग में पूछने पर बताया कि व्यर्थ के नौ-छह में क्यों पड़ते हो। गंगा-स्नान करो, सन्ध्या-गायत्री करो, गीता का स्वाध्याय करो और हरिनाम का आश्रय लो। श्रीमन्त सेठजी हम सभी के अभिभावक थे, गार्जियन थे। एक बार ऋषिकेश जाते समय उनसे पटना स्टेशन पर मैं मिला। मेरा श्वास-कष्ट उभार पर था। उसे कुछ दबाये रखने के लिए मुँह में पान लिये हुए था। सेठजी ने देखा और पूछ ही तो दिया—'क्यों, पान खाने की आदत कबसे पड़ गई?' उनके प्रति हम लोगों का सम्भ्रम का, श्रद्धा-आदर का भाव था। उनके सत्संग में समाधि का आनन्द मिलता था। उनके अट्टहास से ऋषिकेश का समस्त वातावरण गूँजता था। बड़ा ही मुक्त अट्टहास था उनका। गंगा के तट पर हिमालय की गोद में इस ऋषिकल्प गृहस्थ सन्त ने सत्संग का सदाव्रत चलाया—पिछले पचास वर्षों से प्रतिवर्ष नियमित रूप से। गतवर्ष अतिशय अस्वस्थता के कारण नहीं जा पाये और इस वर्ष शरीर-त्याग-मात्र के लिए ही इस उत्तराखण्ड की पावन भूमि में पधारे—गंगा के तट पर हिमालय की गोद में—अपने प्रिय गीताभवन में—सहस्र-सहस्र सत्संगी भाइयों से घिरे हुए—पास ही श्रीभाईजी, श्रीस्वामी रामसुखदासजी, स्वामी श्रीचक्र-

धरजी, स्वामी भजनानन्दजी, श्रीमोहनलालजी! गीता का ध्यान करते हुए, गीता-गायक का ध्यान करते हुए, हरिनाम की अमृत-वर्षा में भगवान् का प्रिय भक्त भगवान् की गोद में सदा के लिए सो गया....!!!

सचमुच, श्री जयदयालजी की चादर पर कोई दाग नही पडा। उन्होंने साईं से उसे जैसी पाई, वैसी ही—ज्यों-की-त्यो, बेदाग, साईं के चरणो में धर दिया। सच्चा श्रीकृष्णार्पण का जीवन, श्रीकृष्णार्पण की प्रयोगशाला! कोटि-कोटि हृदयों की श्रद्धांजलि उन पावन चरणों में—श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक।

श्रीजयदयालजी नहीं हैं, परन्तु फिर भी वे चिर अमर हैं। जबतक ऋषिकेश की गंगा इस देश को पावन करती रहेगी, जबतक गीताप्रेस का साहित्य इस देश को ज्ञानालोकित करता रहेगा, जबतक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम एवं भजनाश्रमों की वेदध्वनि एवं हरिनाम का उद्घोष गूँजता रहेगा, जबतक इस देश मे एक भी आस्तिक पुरुष बच रहेगा, जबतक राम और कृष्ण का नाम इस देश मे रहेगा, तबतक भक्तप्रवर, ज्ञानशिरोमणि कर्मयोग की आदर्श मूर्त्ति श्रीगोयन्दकाजी का यशःशरीर अमर रहेगा।

अध्याय ४

अध्यापकीय जीवन

जीवन के आरम्भसे ही दो महापुरुषों की छाया मेरा पीछा करने लगी—गणेश-शंकर और रामतीर्थ, रामतीर्थ और गणेशशंकर—बस, इनके सिवा तीसरे किसी को मैं जानता तक न था। हाँ, संकट, कष्ट, कठिनाइयों में श्रीमारुतिप्रसन्न ने सदा मेरा साथ दिया है और जब सारे सहारे टूट गये हैं, तब उनकी लम्बी बाहों का सहारा मुझे अनायास मिलता रहा है : 'दुर्गम काज जगत के जेते सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते'।

गणेशशंकर से तो बचपन में ही परिचय हो गया था, 'प्रताप' के माध्यम से। मेरा अक्षरारम्भ 'प्रताप' से ही हुआ, ऐसा कह सकता हूँ और होश सँभलते ही, शायद मैं अपर प्राइमरी क्लास में हूँगा, मेरा एक छोटा-सा लेख (?) लेख ही कह लीजिए, 'प्रताप' में छपा था, विषय था 'शरणागति'। मुझे उस लेख के बारे में आज इतना ही स्मरण है कि उसमें गोस्वामीजी का एक दोहा मैंने उद्धृत किया था—

> शरणागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
> ते नर पामर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि॥

काशी-विश्वविद्यालय में जाकर तो मैं 'प्रताप' का नियमित रिपोर्टर ही बन गया और विश्वविद्यालय में होनेवाली नित्य की चहल-पहलों की बड़ी ही जीवन्त एवं प्राणप्रेरक रिपोर्टें 'प्रताप' में भेजता रहता था। गणेशशंकरजी के प्रोत्साहन-भरे पत्र, प्रायः कार्ड, मुझे मिला करते। कभी-कभी मेरे लेखों के लिए दस-पन्द्रह रुपये भी भेजते, जो मेरे लिए विद्यार्थी-जीवन में बहुत बड़ा सहारा होता।

परन्तु, काशी-विश्वविद्यालय में गणेशजी की अपेक्षा स्वामी रामतीर्थ का प्रभाव मुझपर विशेष छाने लगा। गणेशशंकर का एक वाक्य मुझे भूलता नहीं—'ओ नो मैन एनीथिंग।' किसी के भी अहसान से बचो—और स्वामी रामतीर्थ की वे पंक्तियाँ—

> राजी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रजा है।
> याँ यूँ भी वाहवा है, औ यूँ भी वाहवा है॥

ये दो वचन मेरे जीवन के मन्त्र बन गये। गणेशशंकर की जाज्वल्य-मयी देशभक्ति और रामतीर्थ की आध्यात्मिक मस्ती मुझे मोहे हुई थी, परन्तु इस जीवन में न मैं गणेशशंकर बन सका, न स्वामी रामतीर्थ ही। हाँ, गणेशशंकर ने मुझे पत्रकारिता की ओर प्रेरित किया, तो 'भविष्य', 'चाँद', 'सनातनधर्म' और अन्ततः 'कल्याण' के विविध अनुभवों का रस मिला—पहला एकदम उग्र विप्लववादी, तो अन्तिम एकदम आस्तिकवादी। परन्तु, मेरा निजी व्यक्तित्व पूरा-का-पूरा

स्वेच्छया। और तो क्या, हिन्दी-विभाग में अकेले बाबू श्यामसुन्दरदास का ही वेतन २०० रु० मासिक था, शेष सभी, शुक्लजी, लालाजी, हरिऔधजी को केवल ७५रु० मासिक मिलते थे। समस्त वातावरण त्याग और सेवा के भाव से ओतप्रोत था। कारण यह था कि स्वय पूज्य मालवीयजी महाराज विश्वविद्यालय से एक पैसा भी नही लेते थे और जहाँ कहीं भी अवसर आता, राजा-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों से भिक्षा माँग-माँगकर विश्वविद्यालय-रूपी बिरवे को प्यार और दुलार से सींचते रहते थे। पूज्य मालवीयजी महाराज के त्याग, पवित्रता, निर्मल चरित्र, देशभक्ति, ईश्वरभक्ति आदि विश्वविद्यालय के लिए, विश्वविद्यालय के एक-एक छात्र और अध्यापक के लिए संक्रामक सिद्ध हुए और उन दिनों के काशी-विश्वविद्यालय और आज के काशीविश्वविद्यालय मे क्या तुलना?

हाँ, तो ऐसे चूडान्त विद्वान् प्रोफेसरों के निकट सम्पर्क मे आने पर बार-बार मन मे यही लालसा होती कि पढ-लिखकर प्रोफेसरी ही करूँगा तथा इसी के माध्यम से देश, जाति और साहित्य की सेवा करूँगा। इसी लालसा की प्रेरणा से गोरखपुर मे 'कल्याण' में काम करते हुए वहाँ के 'बालमुकुन्द कॉलेज' में सप्ताह मे दो-तीन व्याख्यान अवैतनिक रूप से दिया करता था। गरज कि प्रोफेसर बनने का बेहद शौक था। 'कल्याण' ने सम्पादक बनाकर सारी मुरादें पूरी कर दी थी। अब सोलह आना प्रोफेसर बनना रह गया था; गणेशशंकर बन चुका था, रामतीर्थ बनना बाकी था—हालांकि बनने को तो कुछ भी न बन सका—न गणेशशंकर के चरणो की धूलि मस्तक पर धारण करने योग्य बन सका, न रामतीर्थ के; परन्तु इन दोनों ने जो आग अन्दर लगाई, वह आज भी जल रही है—ज्यों-की-त्यों।

सन् १९४३ ई०की जुलाई का प्रथम सप्ताह। माधवजी आरा कॉलेज के हिन्दी-विभाग मे अध्यापक होकर आ गये और पहले दिन प्राध्यापक-कक्ष में बैठकर जो गौरव और सौभाग्योदय का अनुभव किया, उसका किन शब्दों में वर्णन करूँ? लगता था, आनन्द के मारे मैं पागल हो जाऊँगा, हार्ट फेल कर जायगा, परन्तु यह तो शुभारम्भ था जीवन के एक नये अध्याय का, जो पूरे बारह वर्ष तक चला।

किसी भी कॉलेज का केन्द्रबिन्दु होता है, उसका आचार्य, जिसके व्यक्तित्व की गरिमा और खुशबू कॉलेज के समस्त वातावरण को प्रभावित एवं सुरभित करती रहती है। प्रिंसिपल का निजी व्यक्तित्व एवं चारित्र्य जितना महान् एवं उज्ज्वल होगा, कॉलेज का व्यक्तित्व भी स्वतः उतना ही महान् और आदर्श होगा।

हुआ है। ठीक इसी प्रकार, आरा के जैन कॉलेज के आद्य प्राचार्य श्रीवेनीमाधव अग्रवाल के व्यक्तित्व की गरिमा और सुषमा, आज भी उस कॉलेज पर ज्यों-की-त्यों छाई हुई हैं, यद्यपि उनका देहावसान हुए लगभग पन्द्रह वर्ष होने को आये। बड़ा ही विलक्षण एवं चमत्कारी व्यक्तित्व था प्रिंसिपल अग्रवाल का, अलौकिक आकर्षण और शालीनता के मूर्त्तिमान् विग्रह ही थे वे। जो एक बार भी, क्षण-भर के लिए भी, उनके पारस-स्पर्श में आया, वह जीवन-भर के लिए प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता था। उनकी मृदुल मुस्कान और फिर अट्टहास आज भी उस कॉलेज की एक-एक ईंट में, एक-एक पुष्प एवं लता में मुखरित हैं। अब भी उस कॉलेज में पैर रखते ही अग्रवालजी का व्यक्तित्व जैसे उभर आता है और एक कवि की वह अमृतवाणी स्मरण हो आती है—"यहाँ धीरे-धीरे चलो, मुलायम मुलायम पैर रखो, क्योंकि तुम किसी के सपनों पर चल रहे हो" (Tread softly for thou treadest on his dreams.) सात फुट का लम्बा भरा-पूरा कद्दावर गदराया हुआ शरीर—गेहुँआ रंग, आँखों पर हल्के नीले रंग का चश्मा, खादी की शेरवानी पैजामा या कोट-पैंट, हाथ में चाभियों का गुच्छा, जेब में कई पेन—हरी स्याही उन्हें बेहद पसन्द थी—फिर भी हर पेन में अलग-अलग रंग की स्याहियाँ—नीली, हरी, लाल, मन्द-मन्द गम्भीर चाल से मन्द-मन्द मुस्कान के साथ प्रिंसिपल अग्रवाल आ रहे हैं। बातचीत में प्रत्येक कॉमा, सेमिकोलन पर एक मीठी प्यार-भरी चितचोर मुस्कान—लगता है, इस व्यक्ति पर कहीं कोई भार है ही नहीं, सर्वथा निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व। कॉलेज के हर मौके पर उपस्थित, परन्तु हिन्दी-साहित्य-परिषद् और दर्शन-परिषद् के साथ विशेष आत्मीयता। थे तो वे मध्यकालीन इतिहास के पण्डित, परन्तु साहित्य और दर्शन के प्रति उनकी अगाध आस्था थी। जन्मभूमि थी उनकी जबलपुर, पर कर्मभूमि बिहार और यहीं कर्मक्षेत्र में ही कर्म करते-करते उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। साधु टी० एल्० वासवानी के व्यक्तित्व एवं कृतियों से वे बहुत प्रभावित थे और उनके कुछ अँगरेज़ी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर प्रकाशित भी करवाया था। साधु वासवानी उन्हें बहुत मानते भी थे, यह उनके पत्रों से स्पष्ट था। वे प्रायः अपने पत्रों में 'माई स्वीट अग्रवाल' कहके सम्बोधित करते थे।

करते, मानों स्वयं उन दृश्यों को, उन घटनाओं को, उन रूपों एवं लीला-विलासों को इन आंखो से देखा है। मुगल-चित्रकला, मुगल-स्थापत्यकला, मुगल-राग-रागिनियो एव कत्थकनृत्य पर तो उनका, लगता था, एकाधिकार है। 'अनारकली' के रूप-लावण्य की जब चर्चा छिड़ती, तो वे घण्टो उसके नखशिख का विशेष वर्णन करने लगते, मानों वह रूपवती सामने खडी है। उसके गुण का वर्णन करते, तो कहते—मानो मैदा और मधु, मैदा और दूध की वह बनी थी। उसके अधरो की लाली, बाँकी चितवन और नशीले गेसू का वर्णन करते-करते वे उर्वशी की कल्पना को अनारकली मे साकार कर देते। मुगल-चित्रकला के कुछ आदर्श दुर्लभ नमूने उनके पास थे, जिन्हें वे पढाते समय प्रस्तुत करते और समझाया करते थे। जब कभी संध्या समय आकाश में बादल घिर आते, तो वे हम कुछ अध्यापकों को अपने आवास पर आमन्त्रित कर गरम-गरम पकौड़ियाँ और काफी तो पिलाते ही, अपनी मेघमेदुर ध्वनि से मुगलो की ऐसे समय की नानाविध विलासिताओं का भी बड़ा ही सजीव चित्र खीचते और फिर यूथिका राय का वह गीत सुनाते जो उन्हे विशेष प्रिय था, जिसे वे बार-बार सुनना-सुनाना चाहते थे—

कौन चदरिया ओढ़ूँ आली
सखि! आज चली मैं प्रीत डगरिया,
कौन चदरिया ओढ़ूँ आली।

प्रिंसिपल अग्रवाल की सुरुचि और शालीनता कॉलेज की एक-एक बात में व्याप्त थी। प्राध्यापकों के चुनाव में ही उनकी योग्यता और प्रतिभा का परिचय मिलता था। उन दिनों आरा कॉलेज के प्राध्यापक-वर्ग में थे सर्वश्री नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा, डॉ० देवराज, डॉ० वी० पी० सिन्हा, डॉ० परमेश्वर दयाल, डॉ० विमलेश्वर दे, डॉ० माहेश्वरी, जो आगे चलकर किसी-न-किसी विश्वविद्यालय मे अपने-अपने विभाग के अध्यक्ष-पद को सुशोभित कर रहे हैं। मेरे विभाग के अध्यक्ष थे डॉ० शिवनन्दनप्रसादजी, (उस समय 'डॉक्टर' नही थे) मैं था उनका अधीनस्थ अध्यापक। हम दोनों ही दो छात्रावासों के अधीक्षक भी थे। उन दिनों घोर कण्ट्रोल का जमाना था और छात्रावासों का अधीक्षक होना लोहे के चने चबाने जैसा था। हर खाद्य-सामग्री के लिए एस० डी० ओ० के पास दौड़ना पड़ता था।

छात्रावास का चार्ज मैंने लिया ही था कि एक भयंकर दुर्घटना हो गई और मैं काफी चक्कर मे पड़ने से बच गया। गरमी के दिन थे। छात्र अपने-अपने कमरों में ताले लगाकर बाहर सोते थे। एक चोर 'परचा' हुआ था, रोज रात को उनकी

इसी सिलसिले में एक और भी अनुभव बड़ा ही रोचक है। हरिजन-छात्रों को प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों से वजीफे मिलते थे, फीस माफ थी, छात्रावास का चार्ज भी नहीं देना पड़ता था; परन्तु हरिजन-छात्रों के परीक्षाफल अच्छे नहीं होते थे। उनके कमरों में जाकर देखिए तो मोटे-मोटे गद्दे, मसहरी, दो-दो तकिए, टेबुल-क्लॉथ, रिस्टवाच, बढ़िया पार्कर पेन, सेंट, स्नो, शेविंगसेट, कई जोड़े जूते और सूट आदि प्रचुर मिलेंगे, परन्तु पाठ्यपुस्तकें नदारद। गरज यह कि फैशनपरस्ती बेहद बढ़ गई, पर असली काम की ओर ध्यान नहीं। परीक्षाफल अच्छा हो भी, तो कैसे?

छात्रावास की प्रातःकालीन प्रार्थना में उपनिषदों के कुछ मन्त्र सस्वर पाठ किये जाते, फिर सरस्वती और गणेश की वन्दना, थोड़ी देर हरिनाम संकीर्तन और अन्त में शंकराचार्य की षट्पदी। इस प्रार्थना का प्रभाव बड़ा व्यापक और गहरा पड़ रहा था, यह मैंने अनुभव किया और चरित्र-निर्माण में तो प्रार्थना से बढ़कर कोई वस्तु छात्रों के लिए हो नहीं सकती। आज अनुशासनहीनता का इतना हल्ला मचा हुआ है और है भी वह एक विकट समस्या। परन्तु, यदि नियमपूर्वक छात्रावासों एवं विद्यालयों में प्रार्थना की परिपाटी चला दी जाय, तो मेरा विश्वास है, यह समस्या इतना विकट रूप धारण नहीं कर पाये। परन्तु, 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' में प्रार्थना की चर्चा करना भी एक गुनाह है। आज के इस विकासवादी वैज्ञानिक युग में प्रार्थना?? शिव! शिव! ऐसा घोर दुष्कर्म!! आज जिस प्रकार के छात्र और छात्राएँ विश्वविद्यालय से निकल रहे या रही हैं, उन्हें देखकर, उनके शारीरिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य को देखकर दया आती है। रोमियो और जूलियट के काफ्ले, जिनमें न देशप्रेम है, न विश्वप्रेम, न भगवत्प्रेम। है तो केवल शरीरासक्ति, भोगासक्ति। परन्तु भोग की शक्ति के बिना भोगासक्ति भी कितनी दारुण है!

कॉलेज में आते ही मेरे कन्धों पर काफी बोझ आ गया। छात्रावास का अधीक्षक, प्रबन्ध-समिति (गवर्निंग बॉडी) का सदस्य, कॉलेज की कई समितियों का अध्यक्ष। परन्तु, मुझे 'कॉमन-रूम' तथा 'कला और संस्कृति-परिषद्' की अध्यक्षता विशेष प्रिय थी; क्योंकि इन दो संस्थाओं के माध्यम से छात्रों की मैं विशेष सेवा कर सकता था। डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा अपने निवासस्थान पर गीता के क्लास लिया करते थे। मैं अधिक-से-अधिक छात्रों को लेकर उसमें सम्मिलित हुआ करता था। उन दिनों आरा का जैन कॉलेज आज की तरह एक बाजार या मेला न था। २५०-३०० छात्र थे, २०-२२ अध्यापक। हम लोग कोशिश करते थे, प्रत्येक छात्र को नाम से जानें और उसकी वास्तविक स्थिति तथा गतिविधि पर सजग दृष्टि

रखें। हर व्यक्ति को अपना नाम बड़ा प्यारा होता है और शहर में, कॉलेज के बाहर, बाजार में यदि हम किसी छात्र को नाम लेकर पुकारते, तो वह अपने को गौरवशाली समझता और व्यवहार में सावधानी बरतता।

कुछ ऐसे छात्र भी थे, जो प्रोफेसरों से अधिक ठाट-बाट में रहते थे, रोज नया सूट पहनते थे, सिगरेट फूंकते हुए कॉलेज में प्रवेश करते थे, जाड़े के दिनों में भी आँखों पर रंगीन चश्मा और चाल में एक खास अन्दाज और अदा। वे प्रायः ऐसे छात्र थे, जो वर्षों से फेल होते आ रहे थे और पास न होने की कसम खाये हुए थे। किसी प्रोफ़ेसर को देखकर उसकी खिल्लियाँ उड़ाना उनका खास काम था। कॉलेज में वे महज तफरीह के लिए आया करते, या आने की कृपा किया करते, ऐसा कहना ठीक होगा। वे सभी अर्थों में 'विद्वन' थे। संयोग ही कहिए, ऐसे छात्रों को मैं विशेष प्यार और चाव से देखने लगा और अनुभव करने लगा कि यदि इनकी शक्तियों का सदुपयोग हो, तो कॉलेज का वातावरण बदल जाय; क्योंकि एक ही सड़ी मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है।

धीरे-धीरे मैं इनके सम्पर्क में आने लगा। उनमें से कुछ बहुत अच्छा गाना जानते थे, कुछ को अभिनय और नृत्य का शौक था, कुछ को 'मेकप' का। मैंने 'कॉलेज ड्रामेटिक सोसायटी' कायम की और स्वयं उसका अध्यक्ष बना और ये 'आवारा' समझे जानेवाले छात्र कार्यकारिणी के सदस्य बन गये। फिर क्या था, महीने-भर के अन्दर हम लोगों ने मोहन सिनेमा-हॉल में प्रेमीजी का 'प्रतिशोध' नाटक अभिनीत किया। उससे कॉलेज के 'पुअर ब्वायज फण्ड' में १६०० रु० आये, परन्तु सबसे बड़ा लाभ हुआ इन छात्रों के जीवन का आमूल रूपान्तर। उन्हें आज-तक कॉलेज के छात्रों और अध्यापकों से कटु समालोचनाएँ ही मिली थीं—कभी प्रेम और सहानुभूति का एक कण नहीं मिला था। मेरा पूरा-का-पूरा प्रेम और सहानुभूति पा इन छात्रों के अन्तस् का देवता जगा और फिर तो इनके रूपान्तर की कथा आज भी प्राणों को पुलकित किये देती है। इनमें से दो आज हाईकोर्ट के ऐडवोकेट हैं और शेष पाँच उच्च राजकीय अधिकारी।

बात सन् १९४४-४५ ई० की है। आरा-जैन कॉलेज में उन दिनों सहशिक्षा वैसे ही निषिद्ध थी, जैसे मन्दिरों में हरिजनों का प्रवेश। जब-जब चर्चा छिड़ती, कॉलेज की गवर्निंग बडी के मूर्धन्य सदस्य इस प्रस्ताव का घोर विरोध करते। संयोग से मूर्द्धन्य सदस्यों में तीन-चार, जो पचास को पार कर चुके थे, बेहद दकिया-नूसी खयाल के थे और उनकी समझ में कॉलेज में लड़कियों का आना घोर कलियुग को न्योता देना था। गवर्निंग बाडी में उनके तीव्र विरोध का उत्तर देने में हमलोग असमर्थ थे, ऐसी बात नहीं; सौजन्य, शालीनता और संकोच के मारे चुप रहते कि

पता नहीं, सहशिक्षा पर हम लोगों के बल देने का, ये लोग क्या-का-क्या अर्थ लगाने लगें। परन्तु, प्रिंसिपल अग्रवाल ने अध्यापकों को बुलाकर उनकी राय ली और जब सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया कि सहशिक्षा का शुभारम्भ हो, तब उन्होंने मुझे गवर्निंग बडी में युद्ध छेड़ने के लिए तैयार किया और इस बार तै यह हुआ कि हमी लोग हमला करें और दकियानूसी दल को दलीलों से पामाल कर दें। गवर्निंग बडी की वह चिरस्मरणीय बैठक कॉलेज के इतिहास में स्वार्णाक्षरों में अंकित होने योग्य है। प्रिंसिपल और दो अध्यापक सहशिक्षा के पक्ष में और शेष सारी 'गवर्निंग बडी' विरोध में। वह विरोध भी सामान्य नहीं, घोर और तीव्र। जी० बी० के जब एक परम-सम्मान्य सदस्य ने आवेश में पूछा कि सहशिक्षा से उत्पन्न बुराइयों से छात्रों और अध्यापकों को बचाने का जिम्मा आपलोगों में से कौन लेगा? तब, मैंने भी उतने ही आत्मविश्वास के साथ कहा 'सारी जिम्मेवारी मेरी।' प्रिंसिपल अग्रवाल मेरे उत्तर पर मुग्ध हो गये और उनका एक वाक्य, जो उस अवसर पर उन्होंने कहा था, आजतक मुझे ज्यों-का-त्यों स्मरण है—"By introduction of co-education in the college you will find that teachers will come better dressed, better prepared and students will know how to behave better; in other words, the entire atmosphere of this college will change for the better and the general tone is bound to improve."—"सहशिक्षा के प्रवेश से आप देखेंगे कि हमारे अध्यापक अच्छे ढंग से सजकर और अच्छी तैयारी के साथ आयेंगे, छात्रों में भी उत्तम आचरण का अभ्यास पड़ेगा; दूसरे शब्दों में कॉलेज का सारा वातावरण बदल जायगा और सामान्यतः सारी बातों में सुघड़ता आ जायगी।" काफी जद्दोजहद के बाद सहशिक्षा का प्रस्ताव तो स्वीकृत हो गया, पर मेरी जिम्मेवारियाँ अनन्तगुना बढ गईं। शुरू-शुरु में, छात्रों को कौन कहे, अध्यापकों तक में ललचाई आँखों से छात्राओं को देखने का नशा छाया हुआ था। सारा वातावरण एक विचित्र पुलक और औत्सुक्य से भर गया और लगा जैसे पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आया हो।

कॉलेज के लिए यह एक सर्वथा नया प्रयास था। लड़के जहाँ-कहीं भी लडकियों को देखते, फुस-फुस कुछ बतियाने लगते। अध्यापकों में एक ऐसे भी थे, जो स्त्री-मात्र से परहेज करनेवाले थे, और उन्होंने प्रिंसिपल से निवेदन किया कि जिस वर्ग में लडकियाँ हों, वह वर्ग इन्हें नहीं दिया जाय। परन्तु, यह हो कैसे सकता था? वे इतिहास और नागरिकशास्त्र के अध्यापक थे और अधिकांश छात्राओं के ये विषय थे। उनके साथ समझौता यह हुआ कि वर्ग में जिस ओर लड़कियाँ बैठेंगी, वे उस ओर नहीं ताकेंगे। उन दिनों उनपर महर्षि दयानन्द, स्वामी

रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द का आदर्श सवार था, विशेषतः महर्षि दयानन्द का। जब मैं उन्हें समझाता कि यह आपका महा असन्तुलित दृष्टिकोण है और इसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर होगी, तो वे मुझपर बरस पड़ते। उन दिनों वे जान-बूझकर अपना वेष बहुत रूक्ष और अटपटा रखते। हफ्तों हजामत नहीं बनाते, कपड़ों की सफाई पर भी ध्यान नहीं देते और कोट के ऊपर से कमर में एक फेंटा बाँधा करते। बाद मे जब वे अमेरिका से लौटे, तब मेरी बात का समर्थन करने लगे और वेश-भूषा मे भी सुरुचि आ गई और अब तो डेली शेव के आदी हो गये हैं। वे कहते हैं कि उन दिनों उनपर एक अजीब पागलपन छाया हुआ था और नारी जाति के प्रति उनके मन में घोर वितृष्णा या वैराग्य के भाव भरे हुए थे। परन्तु मैं अपने दायित्व के प्रति सजग था और भगवान् की कृपा ही कहिए कि आरम्भ मे साल-दो-साल कुछ भी अप्रिय या अशोभन घटना छात्राओं को लेकर नहीं हो पाई और यह धीरे-धीरे अनुभव किया जाने लगा कि आरम्भ में जो एक उत्सुकता, हलचल या रोमांस की भावना थी, वह धीरे-धीरे स्वतः शान्त हो गई और कॉलेज का दैनन्दिन जीवन अपने स्वाभाविक ढंग से चलने लगा।

प्रिंसिपल अग्रवाल कल्पना के बड़े धनी थे और अपनी कल्पनाओं को साकार करने की अद्भुत क्षमता भी उनमें विद्यमान थी। बागवानी का उन्हें विशेष शौक था, यों कहे, तो यही उनकी 'हॉबी' थी। थोड़े ही दिनों में कॉलेज का समस्त वातावरण नाना प्रकार के लता-पुष्पों से सुरभित हो गया और कोने-अँतरे में कोई भी जगह नहीं बच गई, जहाँ कोई-न-कोई पुष्पलता न लगा दी गई हो। 'मालती' और 'माधवी' के प्रति उनके हृदय में विशेष आग्रह था, कहना चाहें, तो कह सकते हैं, कि विशेष दुर्बलता थी और प्राध्यापक-कक्ष के ठीक पीछे 'कामिनी' की जो एक बड़ी-सी झाड़ी उग आई थी और बरसात में जब वह 'पुष्पित' होकर सारे वातावरण को अपनी दिव्य मीठी सुरभि से 'आक्रान्त' कर देती, तो प्रिंसिपल अग्रवाल को समाधि का आनन्द मिलता। वे इन लताकुंजों के पास जाकर उनसे बातें करते और विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से उनके रूप-सौन्दर्य एवं सुरभि का रसपान करते अघाते नहीं।

उन दिनों आरा में डॉ० गंगानाथ झा के सुपुत्र और पं० अमरनाथ झा के छोटे भाई पं० विभूतिनाथ झा एस्० डी० ओ० थे। साहित्य, संस्कृति एवं खेल-कूद के प्रति इनका बड़ा ही अनुराग था और वे कॉलेज के विविध कार्यक्रमों में विशेष दिलचस्पी लेते थे। प्रिंसिपल अग्रवाल की शुभ प्रेरणा से ही पं० विभूतिनाथ झा ने आरा-कॉलेज में 'गंगानाथ झा-ट्राफी' चलाई थी—वाद-विवाद अखिलभारतीय छात्र-प्रतियोगिता के लिए—जिसका प्रथम-प्रथम उद्घाटन स्व० पण्डित लक्ष्मण-

नारायण गर्देजी ने किया था। वह महान् मंगलमय दृश्य बार-बार आँखों में चमक उठता है। उसके प्रथम उत्सव-समारोह में प्रायः अपने देश के सभी विश्वविद्यालयों ने भाग लिये और गुरुकुल काँगड़ी तथा शान्तिनिकेतन से भी छात्र आये थे। निर्णायकों में आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० देवराज, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री थे। विद्वानों का वह परम दिव्य समारोह कॉलेज में अपने ढंग का शायद प्रथम और अन्तिम था।

कॉलेज की 'ड्रामेटिक सोसायटी' बहुत ही प्रख्यात और प्रभावशालिनी होती गई और उसके तत्वावधान में हमलोगों ने कई अभिनय प्रस्तुत किये। इन अभिनयों में हम तीन-चार अध्यापक भी किसी-न-किसी भूमिका में उतरते, जिसका बड़ा ही शुभ प्रभाव छात्रों पर पड़ता। अन्तिम अभिनय आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया था, जिसकी नगर-भर में प्रशंसा हुई। इसी का शुभ परिणाम हुआ कि आरा में अखिलभारतीय संगीत-समारोह का भी संघटन हुआ, जिसमें श्रीनारायणराव व्यास, श्रीविनायकराव पटवर्धन, श्रीवेदी, पं० श्री ओंकारनाथ के अतिरिक्त श्रीमती हीराबाई बड़ोदकर, श्रीमती निर्मला जोशी, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी आदि कई प्रमुख कलाकार पधारे। श्रीजोग, श्रीबिस्मिल्लाह आदि के वाद्य पहले-पहल उसी समय सुनने को मिले। पं० ओंकारनाथ का जोगी मत जा, मत जा, मत जा तब का सुना हुआ आज भी प्राणों में गूँज रहा है। पं० ओंकारनाथ के व्यक्तित्व और मधुर कण्ठ ने सबको मोह लिया था। इस समारोह के शुभारम्भ का श्रेय कॉलेज की नाट्य-परिषद् को ही है और मुख्यतः श्रीनलिनजी, माधवजी, श्रीमाहेश्वरी और स्व० बाबू लल्लनजी (बाबू शत्रुजय प्रसादसिंहजी) इसके मूल में थे। और, आज भी वह आरा में एक स्थायी संस्था हो गई है, जिसकी आय से वहाँ श्रीमारुतनन्दन के भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ और स्वयं श्रीमारुतिप्रसन्न उसमें पधारे। अब उसका नाम 'श्री मारुतनन्दन अ० भा० संगीत-सम्मेलन' हो गया है।

आरा के नागरिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक—सभी प्रकार के समारोहों में हम लोग डटकर भाग लेते। बड़ी चहल-पहल रहती। नागरी-प्रचारिणी सभा, बाल हिन्दी-पुस्तकालय, जैनबाला-विश्राम, जैन सिद्धान्त-भवन आदि सभी संस्थानों में कॉलेज छा गया था और लगता था, जैसे हर क्षेत्र में कॉलेज ही इस नगर का नेतृत्व कर रहा है। और, सच बात यह है कि नेतृत्व कॉलेज के हाथों में था ही।

पढ़ाने-लिखाने में भी हम सभी अध्यापक खूब रस लेते थे। ऑनर्स' क्लास प्रायः दिन में ९ बजे शुरू हो जाते और तबसे शाम के ५, कभी-कभी ६ बजे तक

हमलोग कॉलेज मे डटे रहते। मेरे और शिवनन्दन बाबू के बीच काम का बटवारा यों हुआ कि प्राचीन काव्य और साहित्य का इतिहास तथा गद्य हम पढ़ायें और नवीन काव्य तथा नाटक उपन्यास, आलोचना-शास्त्र वे पढ़ायें। 'कल्याण' में दस-बारह साल रह चुकने के कारण सूर, तुलसी, मीराँ, कबीर, विद्यापति, चण्डीदास, रसखान, घनानन्द आदि से मेरा परम घनिष्ठ परिचय हो चुका था और इन्हें पढ़ाते समय मैं स्वयं रस में डूब जाता और सारे वर्ग को उस रस मे निमग्न कर देता। उन दिनों के मेरे पढ़ाये हुए छात्र आज भी उस 'रस' की चर्चा करते हैं, जिसे 'रसो वै स:' कहा गया है। पढ़ाने में मुझे समाधि का आनन्द मिलता और लगता जैसे जीवन सफल हुआ, तो इस विद्यादान से ही। समय का ध्यान प्राय: मैं भूल जाता और कभी-कभी मेरे क्लास लगातार तीन-तीन घंटे तक चलते और इसलिए मैं अपने वर्ग प्राय: खुले मैदान में लिया करता, जिसमें कमरे और घंटी के बन्धनों से उन्मुक्त रहा जाय। छात्र भी समय का बन्धन भूल जाते और कई बार ऐसा हुआ है कि एक बजे का शुरू हुआ क्लास पाँच बजे तक चलता रहा है और छात्र तथा अध्यापक दोनों ही भूले हुए हैं कि कितना समय निकल गया है। प्राय. खुले मैदान मे घास पर हमारा क्लास लगता। सूर, विद्यापति, मीराँ और घनानन्द मेरे प्रिय कवि थे। जायसी और कबीर से मेरी आरम्भ से ही दोस्ती रही है। इन सभी कवियों के पदों का अध्ययन मैंने पूज्य आचार्य शुक्लजी के चरणों मे बैठकर किया था और उस समय के उनके लिखाये नोट्स मेरे साथ थे। शुक्लजी ने बड़े प्यार से इन कवियों को हमे पढ़ाया था, हम भी उसी प्यार से उन्हे अपने छात्रों को पढ़ा रहे थे। अस्तु;

कुछ ही महीनों बाद हमारे विभागाध्यक्ष प्रो० शिवनन्दन प्रसाद अपने वतन (गया) के कॉलेज मे चले गये और हिन्दी-विभाग में मेरे साथ काम करने आये प्रो० शिवबालक राय जो आजकल साहेबगंज कॉलेज मे प्रिंसिपल हैं। शिवनन्दनजी के बाद शिवबालकजी। शिवनन्दनजी बड़े ही प्रखर और मेधावी, शिवबालकजी परम मधुर और विनोदी। शिवबालकजी थे तो हिन्दी के प्राध्यापक, परन्तु उनकी एक खास अँगरेजी थी, जिसे हम लोग 'शिवबालकन इंगलिश' कहते थे।

मुझे स्मरण है—शिवबालकजी को आरम्भ मे टाई नही बाँधनी आती थी। प्रोफ़ेसर सक्सेनाने उन्हें सिखाया, तो उसकी फाँस को गले से उतारकर शाम को वे ज्यों-की-त्यों खूँटी में टाँग दिया करते थे कि रोज-रोज बाँधने की जहमत से जान बचे। पैंट की 'क्रीज' टूटने न पाये, इसलिए पैंट को तह कर वे तकिये के नीचे रखकर सोते थे। भगवान् की कृपा से मैं इन तमाम झंझटों से मुक्त था; क्योंकि सदा की भाँति कॉलेज मे भी मेरा लिबास धोती-कुरता-दुपट्टा रहा। हाँ, बीच में दो-एक बार

शेरवानी-पाजामा पहनकर छात्रों और अध्यापकों के लिए एक खासा मनोरंज
का साधन बन गया था।

ग्रीष्मावकाश और पूजावकाश मैं प्रायः ऋषिकेश या पाण्डिचेरी में बिता
करता था। सन् १९४५ के ग्रीष्मावकाश के अनन्तर हमलोग जब लौटे, तब इ
बार प्रिंसिपल अग्रवाल पेट की बीमारी लेकर लौटे, और धीरे-धीरे उनका स्वास्
शिथिल होता गया और शरीर क्षीण होता गया। बीमारी की हालत में भी
घर पर क्लास लिया करते और लेटे-लेटे बड़े प्रेम से छात्रों को पढ़ाया करत
हम लोग लाख मना करते, परन्तु वे एक न सुनते। खाने-पीने में भी परहेज उ
पसन्द नहीं था। इसका परिणाम वही हुआ, जो होना था। चार-पाँच महीने व
बीमारी प्रसन्न मुद्रा मे झेलते हुए वे एक दिन हँसते-हँसते हमलोगों से सदा के लि
विदा लेकर चल बसे। मैं ट्यूटोरियल क्लास ले रहा था, उन्होंने आदमी भेज
मैं दौड़ा-दौड़ा गया, तो वे मुस्करा रहे थे और मुस्कराते हुए बोले—'माधवज
वह गीत सुनाइए—

कौन चदरिया ओढ़ूँ आली
सखि! आज चली मैं प्रीति डगरिया
कौन चदरिया ओढ़ूँ आली।

आज इस गीत का वास्तविक अर्थ मैं समझा। 'मैंने कहा—मैं प्रभु से प्रार्थ
करता हूँ कि आप शीघ्र नीरोग हो जायें।' उनका सस्मित उत्तर था—'क्यों इस तु
पदार्थ के लिए भगवान् से प्रार्थना ? अब तो चलने दीजिए, समय हो गया है' अ
हँसते हुए उन्होंने दोनों हाथ जोड़ लिये और हाथ जुड़े-के-जुड़े ही रह गये और उन
प्राण परम प्रियतम में मिल गये। मैं हतप्रभ, अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स
उच्चारण कर रहा था—

कृष्णाय वासुदेवाय, देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय, गोविन्दाय नमो नमः॥
कृष्णाय वासुदेवाय, हरये परमात्मने।
प्रणतःक्लेशनाशाय, गोविन्दाय नमो नमः॥

प्रिंसिपल अग्रवाल का निधन आरा जैन-कॉलेज के लिए अनभ्र वज्रपात सि
हुआ। वे सच्चे अर्थ में प्रोफेसरों के परम शुभचिन्तक सखा और सुहृद् थे त
छात्रों के लिए स्नेहमयी माँ थे। उनका जाना कॉलेज की श्री का जाना था। औ
इस विपत्ति से कॉलेज का आन्तरिक जीवन एवं बाह्य सौन्दर्य इतना क्षत-विक्ष

तथा अस्त-व्यस्त हो गया कि उसे संभालने में कई वर्ष लग गये। अबतक भी कॉलेज पर उस महाविपत्ति के दाग बने हुए हैं।

आँखों में नूर, जिस्म में बनकर वह जा रहे।
यानी हमीं में रहके यो हमसे निहां रहे॥

विलक्षण था व्यक्तित्व प्रिंसिपल अग्रवाल का। वैसे अलमस्त रंगीले व्यक्ति आज कहाँ मिलते हैं? एक बार आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी उनसे मिलने आये। कार्तिक-अगहन के दिन थे; प्रातःकाल ७-८ का समय। एक रेशमी चादर ओढ़े प्रिंसिपल अग्रवाल एक मेज के सामने आरामकुर्सी पर बैठे कोई तान अलाप रहे थे—सम्भवतः उनका प्रिय गीत था 'कौन चदरिया ओढ़ूं आली, सगि आज चली मैं प्रीत डगरिया।' द्विवेदीजी प्रिंसिपल अग्रवाल का यह रूप देखकर दंग रह गये—एक कॉलेज का प्रिंसिपल इतना निर्द्वन्द्व हो सकता है? प्रिंसिपल अग्रवाल की मेज पर 'फाइल' कौन कहे, कागज का एक चिट भी न था। द्विवेदीजी को यह मस्ती इतनी भाई कि वे बारम्बार इसकी चर्चा करते थके नहीं।

प्रिंसिपल अग्रवाल की सुरुचि और कलाप्रियता, उच्च आदर्श एवं आदर्श चरित्र की छाप कॉलेज की एक-एक ईंट पर थी, एक-एक फूल, एक-एक पत्ती पर थी। साहित्यिकों के वे परमभक्त थे और उनका आदर करने में स्वयं अपने को गौरवान्वित अनुभव करते थे और इसीलिए उनके प्राचार्यत्व-काल में आरा-कॉलेज में देश का शायद ही कोई साहित्यिक हो, जो आमन्त्रित होकर आरा-जैन कॉलेज में न आया हो और उसका उचित सम्मान न किया गया हो। ललित कलाओं में मुगल-चित्रकला तथा शास्त्रीय संगीत के वे परम मर्मज्ञ अनुरागी थे। उनका ज्ञान भक्ति के रस में डूबा हुआ और भक्ति ज्ञान के तेज से उद्दीप्त थी—अर्थात सम्मिश्रण था ज्ञान और भक्ति का उनके जीवन में और विनोदप्रियता तथा सुहृदता तो उनकी स्वाभाविक थी ही।

प्रिंसिपल अग्रवाल के महाप्रस्थान का दृश्य आजतक ज्यों-का-त्यों आँखों में, मन में, प्राणों में छाया हुआ है—महाप्रयाण की महायात्रा और सम्भवतः आरा के इतिहास में इतने अधिक व्यक्ति महायात्रा में किसी के साथ-साथ चले हों, दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा—महात्मा गान्धी के महाप्रयाण के निधन के स्मरण को नहीं। ऐसी थी लोकप्रियता उनकी और ऐसा था आदर उनका—जन-जन के हृदय-देश में। चिता पर शव रखा गया, हम लोगों ने पुष्प-श्रद्धांजलि अर्पित की; ब्रह्मलीन महानिद्रा में सोये हुए—लहराते-लहराते ज्योतिरूपी से प्रज्वलित के बीच—हम दो—श्रीरामनरेश राय तथा श्यामसुन्दर मिश्र गीता के ११वें अध्याय के विराट्-दर्शन के बाद अर्जुनवाली प्रार्थना के श्लोकों का पाठ कर रहे थे—

देखा होगा; बराबर-कुछ-न-कुछ करते हुए, किसी विकट संकल्प की संसिद्धि में संलग्न और उसके लिए कुछ भी न उठा रखने की क्षमता। कभी-कभी मानस-तरंग (brain wave) पर वे काफी दूर तक तैर जाते और अपने को उपहासास्पद बना डालते। परन्तु, कुल मिलाकर डॉ० मजूमदार का आरा-कॉलेज में आना वरदान ही सिद्ध हुआ।

डॉ० मजूमदार में विभिन्न तत्त्वों का अपूर्व सम्मिश्रण है। वे गौड़ीय वैष्णव हैं—परमनामानुरागी, कथा-कीर्त्तन में रस लेनेवाले। परन्तु, मस्तिष्क से वे घोर अर्थशास्त्री और राजनीतिपटु हैं। ग्रन्थ लिखने और छपाने में तो वे एक ही हैं। किसी बात की तह तक वे पैठ जाने में परम कुशल हैं।

मेरे साथ एक बार उन्होंने ऐसा 'छल' किया कि कॉलेज की ओर से मेरा दिल उचट गया। मैं उन दिनों कॉलेज के पास ही एक बगीचे में रहा करता था। डॉ० मजूमदार ने मुझसे आग्रह कर छात्रावास के अधीक्षक-पद के लिए आवेदनपत्र दिलवाया, परन्तु उन्होंने ही 'गवर्निंग बॉडी' में जाकर उसका विरोध कर अस्वीकृत करा दिया। मुझे इस घटना से गहरी ठेस लगी और मैंने चुपचाप तै कर लिया कि अब इस कॉलेज में नहीं रहना है। मैंने अपनी व्यथा गया-कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल श्रीअमरेन्द्रनारायण अग्रवाल को लिखी और उन्होंने मुझे अपने यहाँ तुरन्त नियुक्त कर लिया। मैं गया-कॉलेज जा रहा हूँ, इस बात की खबर जब अधिकारियों को लगी, तब वे बहुत घबड़ाये और कॉलेज के अध्यक्ष श्रीचक्रेश्वरकुमार जैन और प्राचार्य डॉ० मजूमदार मेरे निवास-स्थान पर आये। डॉ० मजूमदार ने उस समय जो एक वाक्य कहा, उसमें मेरा सारा गुस्सा बह गया। उन्होंने कहा—"माधवजी (ब को ब तो वे कहते ही थे, माधव का उच्चारण लगभग 'माडब्य' की तरह करते थे) इस कॉलेज में दो सन्त हैं—एक आप हैं, दूसरा मैं हूँ। हम दोनों में मतभेद नहीं होना चाहिए।" इतना सुनना था कि मैं हँस पड़ा। डॉ० मजूमदार कितने सरल कि अपने को स्वयं सन्त एलान करते हैं और मैं तो जैसा सन्तवन्त हूँ, यह मैं जानता हूँ या मेरा अन्तर्यामी जानता है। खैर, बात वहीं खत्म हो गई, चक्रेश्वर बाबू मेरी ओर एक विचित्र दृष्टिभंगिमा से देखते रह गये। इस बात पर उन्हें गहरा खेद था कि प्रिंसिपल के किसी व्यवहार से माधवजी को कष्ट पहुँचा। परन्तु, उन्हें एक शब्द भी बोलने का अवसर नहीं आया। हाँ, इस घटना का एक परिणाम अवश्य ही यह निकला कि सुपरिण्टेण्डेण्ट तो मैं नहीं हो सका था, परन्तु मेरे ही लिए 'वार्डेन' का नया पोस्ट बनाया गया और मैं सभी छात्रावासों का 'वार्डेन' नियुक्त हुआ। गया-कॉलेज में न आ सकने की अपनी सारी कहानी मैंने अमरेन्द्र बाबू को लिख दी।

परन्तु, प्रिंसिपल अग्रवाल के अभाव में आरा-कॉलेज में मेरा मन लग नहीं रहा था। अन्दर-बाहर सब कुछ अजीब उदास-उदास लगता था। कुछ भी सुहा नहीं रहा था। कहीं निकल भागना चाहता था—केवल ऋषिकेश या पाण्डिचेरी नहीं, कॉलेज से ही हट जाना चाहता था। 'कल्याण' का द्वार सदा ही मेरे लिए खुला हुआ था, परन्तु पीसे हुए को क्या पीसना? जो अनुभव प्राप्त कर चुका था, उसे दुहराने से क्या लाभ? अस्तु; भीतर-ही-भीतर एक घुटन होने लगी और फलत. मेरे पुराने साथी 'दमा' ने कसकर आक्रमण किया। दमा नितान्तत एक मानसिक बीमारी है, जिसका प्रभाव शरीर पर इस रूप मे फूटता है। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? ऋषिकुलों, गुरुकुलों का वातावरण देख आया था, जहाँ नियम-कानून की इतनी घोर पाबन्दी कि मेरे जैसे स्वतन्त्रचेता के लिए एक दिन भी निबहना कठिन था। कोई रास्ता सूझ नहीं रहा था; अजीब बेबसी और मायूसी के वे कुछ महीने थे।

परन्तु, इसी बीच औरंगाबाद के सच्चिदानन्द सिन्हा कॉलेज में, द्विजजी के चले जाने के कारण, प्रिंसिपल का पद रिक्त हुआ, मैंने आवेदन किया, मेरी नियुक्ति हो गई और मैं आरा-कॉलेज से विदा होकर औरंगाबाद-कॉलेज में चला गया। विदाई का वह दृश्य बड़ा ही करुण था; जब छात्र और अध्यापक फूट-फूटकर रो रहे थे और मैं आरा-सहसराम छोटी लाइन से औरंगाबाद के लिए प्रस्थान कर रहा था। सैकड़ों छात्र सहसराम तक मुझे पहुँचाने गये और बार-बार कहने पर भी लौटने का नाम न लें। वह दृश्य आज भी ज्यों-का-त्यों आँखों मे, मन मे, प्राणों में तैर उठता है, तो आँखें भर-भर आती हैं।

आरा के अध्यापकीय जीवन में जिस एक व्यक्ति ने मुझे अतिशय प्रभावित किया, वे थे बाबू लल्लनजी। 'बाबू लल्लनजी' का पूरा नाम था बाबू शत्रुंजयप्रसाद सिंह। वे शाहाबाद के जमिरा गाँव के पुराने रईसों और जमींदारों में थे। आरा मे गोपाली चौक के पास इनका 'जमिरा हाउस' कला और कलाकारों का आश्रय-स्थल था। भारतवर्ष का शायद ही कोई कलाकार हो, जो इन्हें और जिसे ये नहीं जानते हों और सबके साथ उनका परम आत्मीयता का सम्बन्ध था। सभी उनके 'घराने' के थे—पं० ओंकारनाथजी और फैयाज खाँ से कण्ठे महाराज तक।

कुछ ही दिन पहले बाबू लल्लनजी कैंसर के भयंकर रोग से मुक्त हुए, तो आशा बँधी कि अब ये कुछ वर्ष कला और कलाकारों के भाग्य से जीते रहेंगे। यों मधुमेह के वे पुराने रोगी थे; फिर भी इतने संयम और शील का उनका जीवन था, इतना धर्मप्राण और पवित्र उनकी दिनचर्या थी कि ६०-६५ वर्ष के होते हुए वे ४०-४५ के लगते और बड़ा ही सुन्दर, स्वस्थ और दमकता हुआ आर्यवपु उन्होंने पाया था।

परन्तु, प्रिंसिपल अग्रवाल के अभाव में आरा-कॉलेज में मेरा मन लग न
रहा था। अन्दर-बाहर सब कुछ अजीब उदास-उदास लगता था। कुछ भी सु
नहीं रहा था। कहीं निकल भागना चाहता था—केवल ऋषिकेश या पाण्डिचे
नहीं, कॉलेज से ही हट जाना चाहता था। 'कल्याण' का द्वार सदा ही मेरे लि
खुला हुआ था, परन्तु पीसे हुए को क्या पीसना? जो अनुभव प्राप्त कर चुका
उसे दुहराने से क्या लाभ? अस्तु; भीतर-ही-भीतर एक घुटन होने लगी
फलत: मेरे पुराने साथी 'दमा' ने कसकर आक्रमण किया। दमा नितान्ततः
मानसिक बीमारी है, जिसका प्रभाव शरीर पर इस रूप में फूटता है। कहाँ ज
क्या करूँ? ऋषिकुलों, गुरुकुलों का वातावरण देख आया था, जहाँ नियम-न
की इतनी घोर पाबन्दी कि मेरे जैसे स्वतन्त्रचेता के लिए एक दिन भी निबहना य
था। कोई रास्ता सूझ नहीं रहा था; अजीब बेबसी और मायूसी के वे
महीने थे।

परन्तु, इसी बीच औरंगाबाद के सच्चिदानन्द सिन्हा कॉलेज में, द्विजजी के
जाने के कारण, प्रिंसिपल का पद रिक्त हुआ, मैंने आवेदन किया, मेरी नियुक्ति
गई और मैं आरा-कॉलेज से विदा होकर औरंगाबाद-कॉलेज में चला गया।
का वह दृश्य बड़ा ही करुण था; जब छात्र और अध्यापक फूट-फूटकर रो
और मैं आरा-सहसराम छोटी लाइन से औरंगाबाद के लिए प्रस्थान कर रहा
सैकड़ों छात्र सहसराम तक मुझे पहुँचाने गये और बार-बार कहने पर भी
का नाम न लें। वह दृश्य आज भी ज्यों-का-त्यों आँखों में, मन में, प्राणों
उठता है, तो आँखें भर-भर आती हैं।

आरा के अध्यापकीय जीवन में जिस एक व्यक्ति ने मुझे अतिशय प्र

की 'गुरशिल्पी' उन्हें मिल गई थी और इस कारण वे कला के विविध माध्यमों में समान रूप से निष्णात एवं श्रेष्ठ गायक थे।

हाँ, कला को विशुद्ध साधना के रूप में ही उन्होंने अंगीकृत किया था। उससे एक पैसा कभी कमाया नहीं, कमाने की न लालसा ही थी, न आवश्यकता ही। घर के अच्छे-खासे सम्पन्न रईस थे, गिने-चुने जमीन्दारों में थे। परन्तु आश्चर्य होता है कि जमींदारी चले जाने के बाद भी उनकी कला-साधना ने जगत् की माँगों के साथ समझौता नहीं किया और वे अपनी उपासना के तुंग शृंग पर अटल डटे रहे।

बाबू लल्लनजी के घनिष्ठतम सम्पर्क में आने, उनके साथ रात-दिन रहने और काम करने का सौभाग्य हमें तब प्राप्त हुआ जब हम लोगों ने उन्हीं की प्रेरणा से आरा में अखिलभारतीय संगीत-सम्मेलन पहले-पहल किया और जिसमें पं० ओंकारनाथ से लेकर हीराबाई बड़ोदकर, नारायणराव व्यास, पटवर्धनजी, कण्ठेजी महाराज, पं० बेदीजी आदि सभी पधारे केवल बाबू लल्लनजी के स्नेहपूर्ण आमन्त्रण पर। उसी समय पहले-पहल मैंने देखा और अनुभव किया कि कलाकारों का बाबू लल्लनजी के प्रति और बाबू लल्लनजी का कलाकारों के प्रति कितने सम्मान और स्नेह का भाव है। वह 'है' अब 'था' बन गया, हा हन्त! उसी सिल-सिले में प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि महिला-कलाकारों को कहाँ ठहराया जाय। उसी समय बाबू लल्लनजी की दिलेरी और सच्चे कलानुराग का एक साथ दर्शन हुआ; उन्होंने अपनी कोठी उन महिला-कलाकारों के लिए खाली कर दी। अपनी माँ, बेटियों और घर की महिलाओं को उन महिला-कलाकारों के साथ रख दिया तथा स्वयं अपने उस कोठी से बाहर आ गये। इस एक घटना से उनकी महिला-कलाकारों के प्रति अटूट आस्था, श्रद्धा और पवित्र प्रेम का पता चल सकता है।

अखिलभारतीय संगीत-समारोह का साल में एक बार होना बाबू लल्लनजी को बराबर खलता था। इसलिए समय-समय पर सुप्रसिद्ध कलाकारों को वे अपने यहाँ सादर आमन्त्रित किया करते और उसमें शहर के इने-गिने कलानुरागियों को बुलाया करते थे। सौभाग्य से मैं भी उनकी सूची में था और ऐसे प्रायः अवसर होते, जब एक-न-एक नामप्रसिद्ध कलाकार कभी संगीत के, कभी नृत्य के, कभी वाद्य के उनके घर पधारते और अपनी कला का आनन्द देते। कलाकारों एवं गुनी के स्वागत-सत्कार में सप्रेम मग्न बाबू लल्लनजी से बढ़कर आदर्श पाना कठिन क्या, असम्भव ही है।

बाबू लल्लनजी की अन्तिम इच्छा भगवान् ने पूरी कर दी। उनकी एक-मात्र अन्तिम साधना थी कि आरा में एक संगीत-नृत्य-वाद्य का विद्यालय खुले,

शहर के कई प्रसिद्ध घराने की 'बाइयाँ' उनसे शास्त्रीय संगीत और नृत्य की शिक्षा ले चुकी हैं और कला के माध्यम से उन्होंने कइयों को नरक से उठाकर संगीत-नृत्य के स्वर्ग मे पहुँचाया था। उनकी शिष्याओं की संख्या भी हजार से कम न होगी। कला की उपासना मे प्रायः चरित्र की शिथिलता देखी-सुनी जाती है, परन्तु बाबू लल्लनजी इसके अपवाद थे। चरित्र के वे परम पवित्र, साधुहृदय, भगवद्भक्त और भगवन्नामानुरागी थे। श्रीमारुतिनन्दन हनुमानजी उपास्य थे उनके। पखावज बजाते समय जब वे 'परन' बोलने लगते और उसपर 'शिवमहिम्न' तथा अन्य शास्त्रीय बोल निकालने लगते, तब श्रोतागण दंग-दंग रह जाता। इंजिन की चाल—गाडी छूटते समय की, जरा तेज होने की और फिर एकदम सरपट भागने की वे विलक्षण ढग से अपनी पखावज पर प्रस्तुत करते थे। घुंघरू की आवाज भी—जब दोनो पैर के सारे घुंघरू, दोनो पैर के दस पाँच घुंघरू, दोनो पैर के बस एक-एक घुंघरू बज रहे हों, उनकी पखावज से सुन लीजिए। और भी बड़े ही विस्मयकारी बोल वे पखावज से निकालते थे। उस समय उनके चेहरे का रंग और उनकी खिलती हुई, फूटती हुई प्रसन्नता देखते ही बनती थी। देवदुर्लभ था वह दृश्य। राग-रागिनियाँ तो उनकी जैसे दासी थी। प्रायः सभी कला-समारोहों मे बाबू लल्लनजी का सबसे अधिक हाथ रहता। सुरुचि की तो वे मूर्त्ति ही थे। रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान, चलना-फिरना सभी कुछ उनका वैशिष्ट्यपूर्ण था। बारहों महीने वे सफेद आबेरवाँ या कोरो का लम्बा कुरता पहनते थे—कन्धे पर बटन लगे होते, गोल गला। गले से लटकती हुई महीन किनारी की लम्बी तहाई हुई चादर, जो घुटनो के नीचे तक पहुँचकर श्रीकृष्ण की वनमाला का स्मरण दिलाती थी। किनारे पर चुन्नट की हुई सुनहली पाढ की शान्तिपुरी धोती, पैरों मे मखमली जूते, सिर पर पुराने जमीदारो की-सी पल्लेदार टोपी। ललाट पर मलय चन्दन की एक बिन्दी, मुख में पान की गिलोरियाँ। पान के वे बडे शौकीन थे, ठीक प्रसादजी की तरह। प्रसादजी की तरह ही उनका रंग-रूप, चाल-ढाल, वेश-भूषा, खान-पान, आचार-विचार था और कहना चाहें, तो कह सकते है कि साहित्यिक क्षेत्र मे जो प्रसादजी ने किया, संगीत-नृत्य-वाद्य के क्षेत्र मे बाबू लल्लनजी ने भी वही या उससे भी अधिक किया, ऐसा कहते भी कोई अत्युक्ति नही। साहित्य के विविध रूपों के प्रति—उपन्यास, नाटक, कविता, कहानी, गद्यकाव्य, निबन्ध आदि के प्रति जैसी प्रसादजी की अमूल्य अमर देन है, उसी प्रकार ललित कला के संगीत—शास्त्रीय और सुगम, नृत्य—विशेषतः कत्थक एवं मणिपुरी, वाद्य में सारंगी, तबला, पखावज, तानपुरा, सितार, इसराज, मुरली आदि विविध वाद्यों के क्षेत्र मे बाबू लल्लनजी की भी वही देन है। वे थे तो महान् पण्डित मृदंग के ही, परन्तु कला की 'मास्टर

की' 'गुरुकिल्ली' उन्हें मिल गई थी और इस कारण वे कला के विविध माध्यमों में समान रूप से निष्णात एवं वरेण्य साधक थे।

हाँ, कला को विशुद्ध साधना के रूप में ही उन्होंने अंगीकृत किया था। उससे एक पैसा कभी कमाया नहीं, कमाने की न लालसा ही थी, न आवश्यकता ही। घर के अच्छे-खासे सम्पन्न रईस थे, गिने-चुने जमीन्दारों में थे। परन्तु आश्चर्य होता है कि जमींदारी चले जाने के बाद भी उनकी कला-साधना ने जगत् की माँगों के साथ समझौता नहीं किया और वे अपनी उपासना के तुंग शृंग पर अटल डटे रहे।

बाबू ललनजी के घनिष्ठतम सम्पर्क में आने, उनके साथ रात-दिन रहने और काम करने का सौभाग्य हमें तब प्राप्त हुआ जब हम लोगों ने उन्हीं की प्रेरणा से आरा में अखिलभारतीय संगीत-सम्मेलन पहले-पहल किया और जिसमें पं० ओंकारनाथ से लेकर हीराबाई बड़ोदकर, नारायणराव व्यास, पटवर्धनजी, कण्ठेजी महाराज, पं० वेदीजी आदि सभी पधारे केवल बाबू ललनजी के स्नेहपूर्ण आमन्त्रण पर। उसी समय पहले-पहल मैंने देखा और अनुभव किया कि कलाकारों का बाबू ललनजी के प्रति और बाबू ललनजी का कलाकारों के प्रति कितने सम्मान और स्नेह का भाव है। वह 'है' अब 'था' बन गया, हा हन्त ! उसी सिल-सिले में प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि महिला-कलाकारों को कहाँ ठहराया जाय। उसी समय बाबू ललनजी की दिलेरी और सच्चे कलानुराग का एक साथ दर्शन हुआ; उन्होंने अपनी कोठी उन महिला-कलाकारों के लिए खाली कर दी। अपनी माँ, बेटियों और घर की महिलाओं को उन महिला-कलाकारों के साथ रख दिया तथा स्वयं अपने उस कोठी से बाहर आ गये। इस एक घटना से उनकी महिला-कलाकारों के प्रति अटूट आस्था, श्रद्धा और पवित्र प्रेम का पता चल सकता है।

अखिलभारतीय संगीत-समारोह का साल में एक बार होना बाबू ललनजी को बराबर खलता था। इसलिए समय-समय पर सुप्रसिद्ध कलाकारों को वे अपने यहाँ सादर आमन्त्रित किया करते और उसमें शहर के इने-गिने कलानुरागियों को बुलाया करते थे। सौभाग्य से मैं भी उनकी सूची में था और ऐसे प्रायः अवसर होते, जब एक-न-एक भारतप्रसिद्ध कलाकार कभी संगीत के, कभी नृत्य के, कभी वाद्य के उनके घर पधारते और अपनी कला का आनन्द देते। कलाकारों एवं मित्रों के स्वागत-सत्कार में सप्रेम संलग्न बाबू ललनजी से बढ़कर आदमी पाना कठिन क्या, असम्भव ही है।

बाबू ललनजी की अन्तिम इच्छा भगवान् ने पूरी कर दी। उनकी एक-मात्र अन्तिम लालसा थी कि आरा में एक संगीत-नृत्य-वाद्य का विद्यालय खुले,

जहाँ शास्त्रीय ढंग से इन कलाओं की विधिवत् शिक्षा-दीक्षा हो। ईश्वर अपने भक्तों की हर मुराद पूरी करता है और करता ही है। आरा मे 'श्रीमारुतिनन्दन संगीत-विद्यालय' बाबू लल्लनजी की अमर स्मृति है। आरा में, रमना मैदान मे श्रीमारुति-प्रसन्न का जो सुन्दर सलोना मन्दिर है और उसमे साक्षात् श्रीमारुतिप्रसन्न का जो दिव्य विग्रह पधराया हुआ है, वह बाबू लल्लनजी की अमर कृति एवं कीर्ति है। बिहार का कला से सम्बन्ध रखनेवाला एक-एक व्यक्ति बाबू लल्लनजी के नाम, रूप और यश को अपने हृदय मे प्रीति के साथ सँजोये रखेगा और मृत्यु उसे मिटा नही सकती। वे रससिद्ध कलाकार थे, उनकी यश काय को जरा-मरण का भय नही।

× × ×

सच्चिदानन्द सिन्हा कॉलेज, औरंगाबाद, में प्राचार्य-पद पर मेरी नियुक्ति की कहानी काफी दिलचस्प है, चमत्कारी तो है ही। साक्षात्कार के लिए ज्वर की ही अवस्था में मैं आरा से चला था। कई दिनों से ज्वर चला आ रहा था, फिर भी मैं चल पड़ा; विशेषतः जब औरंगाबाद की यात्रा काफी कष्टप्रद थी। रेल से या बस से, किसी भी अवस्था में गया होकर, सासाराम होकर या मुगलसराय होकर औरंगाबाद पहुँचना एक तपस्या का विषय था, परन्तु कुछ दैवी शक्ति की प्रेरणा हुई कि मैं चल पड़ा; और यह सोचकर कि वहाँ कोई अच्छा-सा होटल होगा, वही ठहरूँगा, सैलून होगा, बाल बनवाऊँगा और लाड्री होगी, कपड़े धुलवा लूँगा। परन्तु, सन् १९४८ ई० तक औरंगाबाद में न कोई अच्छा, क्या बुरा भी, होटल ही था, न लांड्री, न सैलून। सीधे सेक्रेटरी के घर पहुँचा और उन्हीं के यहाँ ठहरा भी। दूसरे दिन प्रात.काल ८ बजे एस्० डी० ओ० श्रीज्योतिनारायणजी, के घर पर 'इंटरव्यू' था। सबडिविजनों में एस्० डी० ओ० भगवान् से भी बढ़कर हुआ करते हैं और विशेषतः कॉलेजों की 'गवर्निंग बडी' मे, जहाँ 'जी-हुजूरी' सम्प्रदाय के वकीलों की भरमार हो, वहाँ तो एस्० डी० ओ० सर्वेसर्वा ही होता है। बड़ा दबदबा होता है एस्० डी० ओ० का—थाने में थानेदार और सबडिविजन में एस्० डी० ओ० के सामने ईश्वर भी कोई चीज नही।

चुनाचे हम सभी की वही बुलाहट हुई—मैं अपने धोती-कुरते-दुपट्टे में हाजिर हुआ, 'शेव' नही करा पाया था, बालो मे कंघी की भी व्यवस्था ठीक से नही हो पाई। बरसात में खादी के कपड़े तुरत अपने सही रूप में आ जाते हैं और थोड़ी सी बूँदाबाँदी हुई कि उनकी चमक समाप्त हो जाती और तहें टूट जाती हैं। ऐसी ही 'लद-फद' दशा में मैं साक्षात्कार मे शामिल हुआ। जब मेरे प्रतिद्वन्द्वी एक-से-एक बेशकीमती सूट और टाई मे थे। साथ ही वे लोग 'ऊपर से' बहुत बड़े-बड़े लोगों की सिफारिशी चिट्ठियाँ भी ले आये थे। एक चिट्ठी स्वयं सिन्हा साहब की थी,

जिनके नाम पर वह कॉलेज खड़ा है। इण्टरव्यू महज 'फॉर्मल' हो रहा था। इन पत्रों के आधार पर प्रबन्ध-समिति ने किसी व्यक्ति-विशेष की नियुक्ति का निर्णय कर लिया था, फिर एक-एक कैण्डिडेट को बाद में बुलाकर यों ही 'चलता' कर रहे थे। निर्णय मेरे पक्ष में होने से रहा—यह मैं भली भाँति जान गया। अन्त में, कमिटी ने मुझे 'भीतर' बुलाया और अपनी विवशता प्रकट की कि हमलोग क्या करें। ऐसे प्रभावशाली पत्रों के सामने हमलोगों को निर्णय करने के लिए रहा ही क्या? उनकी विवशता की बात सुनकर मैंने छूटते ही कहा—'ठीक है, इसमें मेरा बोलना तो सर्वथा अप्रासंगिक है, परन्तु एक बात की ओर ध्यान दिलाने की धृष्टता करूँगा और वह यह कि आचार्य के पद पर जिस किसी व्यक्ति की नियुक्ति आप सिफारिशी पत्रों के आधार पर करेंगे, उसपर कॉलिज का कोई नियन्त्रण नहीं होगा, वह अपनी हर बात के लिए ऊपर से उस विशिष्ट व्यक्ति का पत्र लाकर आपलोगों का मुँह बन्द कर देगा। जहाँतक मेरा प्रश्न है, यदि मेरा कार्य या आचरण कॉलिज के हितों के अनुकूल नहीं हुआ, तो आप बेगटके हमें बाहर निकाल सकते हैं और हमें तो किसी के पत्र का सहारा लेना भी नहीं है। मैं तो अपनी कृतियों और सेवाओं के बल पर ही यहाँ टिक सकूँगा।' पता नहीं क्यों और कैसे मेरी बात कमिटी के सदस्यों के मन में सटीक बैठ गई और मुझे थोड़ी देर बाहर रहने को कहा गया। मैं बाहर बेंच पर बैठा ही था कि कॉलिज के मन्त्री आये और मुझसे हाथ मिलाकर

निराश या हताश होने की बात न थी। पूज्य मालवीयजी महाराज आशा और उत्साह के मूर्तिमान् विग्रह ही थे और घोर-से-घोर अन्धकार मे भी प्रकाश की किरणें देखते रहते थे। अपनी इस आशावादिता के कारण ही हिन्दू-विश्वविद्यालय को उन्होंने कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया था और कैसे-कैसे अनोखे अलौकिक चमत्कार कर दिखाये थे। उसी राह पर चलकर कॉलेज की दशा को सुधारने और सँवारने का सकल्प हमने लिया। रविवार का दिन था। एकादशी तिथि। सेक्रेटरी के साथ मैं देव-राज्य की रानी की सेवा मे उपस्थित हुआ और कॉलेज के बारे मे सारी स्थिति बतलाई। बतलाने का ढंग कुछ ऐसा महत्त्वपूर्ण एवं करुणोत्पादक था कि रानी साहिबा का दिल तुरन्त पसीज गया और उन्होंने पाँच हजार रुपये का वार्षिक अनुदान तत्काल कॉलेज के लिए स्वीकार कर लिया। मेरी हिम्मत बढी और मैं फिर पटना आकर शिक्षा-मन्त्री, शिक्षा-सचिव, उपकुलपति आदि से मिला और यह बतलाया कि यदि यह कॉलेज डिग्री कक्षा तक स्वीकृत नही होता है, तो इसे बन्द कर देना ही श्रेयस्कर होगा। शिक्षा-सचिव श्रीजगदीशचन्द्र माथुर ने बड़ी सहानुभूति और आत्मीयता का परिचय दिया और सरकार की ओर से विश्व-विद्यालय के सिण्डिकेट को लिखा कि यदि सिन्हा कॉलेज को डिग्री-कक्षाओं तक पढ़ाने की स्वीकृति मिल जाती है, तो सरकार उसके लिए आर्थिक सहायता की बात भी नये सिरे से सोचेगी। फलतः, पटना-विश्वविद्यालय के सेनेट में कॉलेज का प्रश्न जब उपस्थित हुआ, तब राजधानी के बड़े-बड़े दिग्गजों ने खुलकर विरोध किया। मैं दर्शकों की गैलरी मे बैठा हुआ था, कलेजा धड़-धड़ कर रहा था। हे राम, यदि डिग्री ऐफिलियेशन नहीं मिलता है तो क्या मुँह दिखलाऊँगा। घोर विरोध के बावजूद ईश्वर की कृपा से सिन्हा कॉलेज को बी० ए०, बी० कॉम तक की स्वीकृति मिल गई और मैं विजयोल्लास मे औरंगाबाद लौटा। बी० ए०, बी० कॉम होते ही पाँच की जगह छब्बीस प्राध्यापक हो गये। सभी के वेतन दुगुने ढाईगुने हो गये। छात्रों की संख्या भी बेतहाशा बढ़ने लगी और अब प्रश्न यह हुआ कि इस बढते हुए व्यय का भार कॉलेज कैसे सँभाल सकेगा।

अनुग्रह बाबू से अभी मेरा दूर-दूर का परिचय था। सन् १९३० ई० के नमक-सत्याग्रह के एक सैनिक के रूप में वे मुझे मानते, पहचानते थे। पहले-पहल कॉलेज के प्रिंसिपल के रूप में जब मैं उनकी सेवा मे, १३ मकुंलर रोड पर स्थित उनकी छोटी-सी कोठी मे पहुँचा तब एक वात्सल्य-स्नेह से भरी मुस्कान के साथ उन्होंने पूछा—'कहिए प्रिंसिपल साहब, क्या हाल है?' मैंने सारी कथा सुना दी, तो वे मुस्काये और बोले कि जाइए, आप कॉलेज को सँभालिए, अर्थ की चिन्ता मैं दूर कर दूँगा और जहाँ कालेज को वार्षिक अनुदान पहले चार हजार रुपये मिलते थे, वहाँ एकाएक

प्रभावित था और मेरी चेष्टा बराबर यह रही कि इन गुणों का सम्यक् परिपाक मेरे अन्दर हो और मेरे छात्रों मे भी ये प्रेरणा के स्रोत बनें।

औरंगाबाद एक पिछडा हुआ इलाका है—कई बातों मे। शिक्षा के क्षेत्र में तो बेहद पिछड़ा हुआ। जो भी छात्र आते, प्रायः बहुत ही गरीब। प्रायः सब-के-सब यही कहते आते कि पढ़ने का साधन तो नही है, पर इच्छा है। मन में मैंने संकल्प लिया था कि प्रतिभासम्पन्न, परन्तु साधनहीन छात्रों को निराश नही लौटने दूँगा। और, परिणाम यह हुआ कि फ्री-शिप आदि दे चुकने पर भी सैकड़ो छात्र बचे रह जाते सहायता के वास्तविक अधिकारी और सत्पात्र। क्या किया जाय। प्रतिभाशाली छात्रों को मैं लौटने देना नही चाहता था। कॉलेज की यह हैसियत नही थी कि उन सबको सहायता की छाया दे सके। अस्तु; मैंने हिम्मत बाँधी और हेड-क्लर्क से कहा कि प्रतिमास २५०) तक मैं अपने वेतन से छात्रों की सहायता करता रहूँगा। सहायता की राशि इससे फाँदने लगे, तो मुझे सावधान कर दीजिएगा। खोज-खोजकर प्रतिभाशाली छात्रों को सहायता पहुँचाने लगा। पच्चीस-तीस छात्रों का एक निःशुल्क छात्रावास खोल दिया, जिसमें प्रथम श्रेणी के छात्र, जिनकी कॉलेज फीस भी माफ थी, रहते; घर से भोजन की सामग्री लाते और मिल-जुलकर रसोई बनाते और स्वयं बरतन भी माँज लेते। ऐसे छात्रों को मैं पास के गाँवों में सन्ध्या-समय रात्रि-पाठशालाएँ चलाने के लिए नियमित रूप से भेजता और इसके एवज मे उन्हें महीने मे दस-पन्द्रह रुपये समाजशिक्षा की मद से जेबखर्च मिल जाते।

आसपास के गाँवों में हमलोग फैलने लगे—साक्षरता और सफाई का अभियान लेकर। और, चूँकि इस कार्य मे मेरी विशेष रुचि थी, इसलिए हमारे प्राध्यापकों और छात्रो ने भी बड़ी लगन और अध्यवसाय का परिचय दिया। कलिज के इर्द-गिर्द के पाँच-छह गाँवो को हमलोगों ने अपनी प्रयोगशाला बनाई। गाँव धीरे-धीरे साफ-सुथरे दीखने लगे। घर, आँगन और गलियाँ सुन्दर लगने लगी। आरम्भ में हमलोग स्वयं अपने हाथों साफ करते; फिर गाँववालो को शर्म के मारे हाथ बटाना पड़ता।

कानों-कान बात 'बाबू साहब' (डॉ० अनुग्रहनारायण सिंह) तक पहुँची। जेठ की दोपहरी मे वे सीधे कॉलेज मे आये और मुझे सूचना दिये बिना उन गाँवों को देखने का आग्रह किया, जहाँ हमलोगों का सेवा-क्षेत्र था। उनके साथ गया के कलक्टर और एम० पी० तथा अनेकानेक दण्डाधिकारी, पदाधिकारी। पूरा-का-पूरा काफला जेठ मे दिन के डेढ़-दो बजे पैदल उन गाँवों की ओर चला। अनुग्रह बाबू कभी मोटर-दुर्घटना मे अपना एक पैर तोड़ चुके थे और कुछ लँगड़ाते थे। फिर भी, बिना छाता और छड़ी के वे एक गाँव में पहुँचे ही। एक नीम के नीचे हम

पर कालिख लगने से बचा। हम सबकी प्रतिष्ठा, कॉलेज की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रह गई।

कॉलेज को मैंने राजनीति से सदा मुक्त रखा। जातीयता जैसी चीज का कॉलेज मे प्रवेश नही था। सेक्रेटरी की और मेरी खूब पटती थी। वे प्रकृत्या वैष्णव थे, पर थे 'आटोक्रैट'। अपनी प्रशंसा उन्हे बहुत प्यारी और मीठी लगती थी। घुमा-फिराकर वे वही चाहते, पर मेरी जीभ ऐसे कार्यों मे कभी खुलती ही नही। कभी-कभी बहुत सकटापन्न स्थिति हो जाती।

सेक्रेटरी से यों तो हर बात में हमारा मतैक्य रहता, परन्तु एक बार घोर विरोध हो गया, जिसके फलस्वरूप हम कॉलेज छोड़कर गीताप्रेस के लिए अपना विस्तर गोल कर चुके थे। बात यह थी कि एस० डी० ओ० का तबादला हो रहा था—वे कालेज के अध्यक्ष थे, इसलिए भी उनको पार्टी देना उचित था। सेक्रेटरी ने हमें लिखित आदेश दिया कि पार्टी मे ये-ये तैयारियां होंगी, जिनमे सामिष व्यंजनों की बहुलता और विविधता का विशेष ध्यान रखा गया था। मैंने उसी पुरजे की पीठ पर लाल रोशनाई से लिख भेजा कि जबतक माधवजी इस कॉलेज के प्रिंसिपल-पद पर हैं, तबतक कॉलेज के किसी भी उत्सव मे सामिष व्यंजन बनने ही नही पायेंगे। यह सरस्वती का मन्दिर है। जब हमलोग ऐसा निकृष्ट उदाहरण अपने छात्रों के सम्मुख रखेंगे, तो छात्रो से हम क्या आशा करेंगे? सेक्रेटरी ने आव देखा, न ताव, सीधे आदेश दिया कि जो मैं कह रहा हूँ, उसे चुपचाप पालन कीजिए; कॉलेज का मालिक मैं हूँ, न कि आप। मुझे भी ब्राह्मणोचित तैश आ गया और मैंने लिखा कि ठीक है, आप जो चाहें करें, परन्तु सामिष व्यंजनो के परोसने के पहले मैं कॉलेज छोड़ कर चला जाना चाहूँगा। लिखिए, किसे चार्ज दे दूँ। यदि इस बारे मे आपका आदेश नही आता, तो मैं अपने नीचे के वरिष्ठ प्राध्यापक को चार्ज देकर आज ही शाम को गोरखपुर के लिए रवाना हो जाना चाहूँगा। मैंने चपरासियों को आदेश दिया कि मेरा सामान बांधें और सेक्रेटरी के आदेश की प्रतीक्षा किये बिना मैं चार्ज देने लगा। सेक्रेटरी को जब यह सारा किस्सा मालूम हुआ, तब वे दौड़े-दौड़े मेरे निवास-स्थान पर एक प्रोफेसर को लेकर आये, अपने दुराग्रह के लिए क्षमा मांगी और बेचारा वह एस० डी० ओ० बिना पार्टी के ही चला गया।

कॉलेज नगर के सम्पूर्ण जीवन पर छा गया था। नगर मे या इलाके मे कोई भी अनुष्ठान कॉलेज की सहायता के बिना पूर्ण हो ही नही सकता था। प्रतिवर्ष कॉलेज की ओर से हम लोग 'नेत्रदान-यज्ञ' करते, जिससे ३-३॥ सौ आंख के बीमारों का आपरेशन होता, मरहम-पट्टी, दवा-दारू होती और उसका सारा भार कॉलेज पर होता और कॉलेज के छात्र इसे बड़े प्रेम और प्रसन्नता से सम्पन्न करते। रोगियों के थूक-

बगार,टट्टी-पेशाव हमारे छात्र साफ करते, महिला-रोगियों की सेवा छात्राएँ करती—खूब उल्लास के साथ। सब रोगियों के लिए खिचड़ी या साबूदाना बनाकर खिलाना और उनके बरतन धोने का काम भी छात्र-छात्राएँ ही करती। सेवा का रस हमारे छात्र-छात्राओं को खूब मिल गया था। इसी सिलसिले में औरंगाबाद-कॉलेज का 'साधना-सप्ताह' भी चिरस्मरणीय रहेगा। स्वामी शरणानन्दजी महाराज के तत्त्वावधान में पूज्य श्रीगर्देजी महाराज की गीता-कथा और फिर सहस्रों साधकों का इसमें सानन्द भाग लेना। प्रातःकाल ३॥ बजे से रात के ११ बजे तक का साधना-कार्यक्रम, जिसमें प्रान्त के विभिन्न जिलों से सैकड़ों की संख्या में साधक आये थे और कॉलेज के छात्रावास में रहे थे, भुलाये नहीं भूलता। वह दृश्य आँखों में बार-बार झूम उठता है और लगता है इस एक ही कार्य के कारण औरंगाबाद-कॉलेज में मेरा जाना सर्वथा सार्थक हो गया।

कॉलेज के प्राचार्य-जीवन के अन्तिम दो-तीन वर्षों में मैं पूज्य श्रीगोपीनाथजी कविराज महोदय की देखरेख में अपनी 'थीसिस' लिखने में बेहद व्यस्त रहने लगा। उस सिलसिले मे मुझे देश के विभिन्न भागों की यदा-कदा यात्राएँ भी करनी पड़ती थीं। कॉलेज में सह-शिक्षा चल रही थी—अधिकांश छात्र और छात्राएँ साधनहीन थे। उनके प्रति मेरे मन में असीम स्नेह और आत्मीयता का भाव था, खुले दिल और खुले हाथ उनकी मैं सहायता किया करता था। कालेज शहर से १॥-२ मील पर है। छात्राओं को प्रतिदिन बारह आने रिक्शा के लग जाते। इसके अलावा पुस्तकों और फीस के खर्च। मैंने उन्हे सारी चिन्ताओं से मुक्त कर दिया था। कॉलेज-फीस माफ, कॉलेज, लाइब्रेरी से कोर्स की किताबें और अपने पास से रिक्शा-खर्च। इसका कुछ का कुछ अर्थ लगने लगा। मैं अपनी थीसिस मे व्यस्त। 'मित्रों' को समालोचना का अवसर मिल गया। गुमनाम चिट्ठियाँ उड़ाई जाने लगीं। सेक्रेटरी और गवर्निंग बडी के सदस्यों के कान भरे जाने लगे। मुझे सब मालूम हुआ, जब उसकी तहकीकात होने लगी। श्री ए० एफ्० कुटो उन दिनों औरंगाबाद के एस्० डी० ओ० थे। तहकीकात में उन्होंने स्पष्ट लिखा कि कुछ गुण्डे बदमाश व्यक्तियों ने कॉलेज के प्राध्यापकों के बहकावे मे आकर प्रिंसिपल पर झूठे ही यह तोहमत लगाई है। मुझे दुःख इसी बात का रहा कि इस अग्निकाण्ड मे सेक्रेटरी ने भी आहुतियाँ डालीं।

खैर, बादल छँट गये और मैं यथापूर्व कॉलेज मे अपना कार्य करता रहा। परन्तु, दिल टूट गया था। टूटा हुआ दिल शीशे की तरह है, जोड़ा नहीं जा सकता। और, भगवान् की कृपा से समाजशिक्षा के उपनिदेशक-पद पर मेरी अनायास, अप्रत्याशित नियुक्ति हो गई और मैंने जनवरी, १९५६ ई० में सरकारी नौकरी मे पदार्पण किया। औरंगाबाद से विदाई का दृश्य आरा की विदाई से भी अधिक करुण और

मर्मान्तिक था—अध्यापक, छात्र, छात्राएँ सभी फूट-फूटकर रो रहे थे, यह अनुभव कर कि उनका एक सच्चा भाई, सखा, सुहृद्, शुभैषी मित्र उन्हें छोड़कर जा रहा है। मैं भी विचलित हो गया था, परन्तु मेरे भाग्य में ही यह बदा है कि टूटी-फूटी संस्थाओं को सँवार-सजाकर जब आनन्दोपलब्धि का अवसर आता है, तब मुझे उसे नमस्कार कर चल देना पड़ता है।

पटना-विश्वविद्यालय के अधीनस्थ दो महाविद्यालयों में अध्यापन-कार्य में दो विद्वानों के सान्निध्य का अलभ्य लाभ मुझे मिला, एक थे दर्शन-विभाग के अध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्रमोहन दत्त और दूसरे थे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री। विगत १९ जुलाई (१९६४ ई०), आषाढ शुक्ला-दशमी, रविवार को सन्ध्या समय साढे सात बजे पटना के कॉटेज-अस्पताल में डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने अपना शरीर-त्याग दिया। पिछले दो-तीन महीनों से वे अस्वस्थ थे। पहले घर पर चिकित्सा होती रही, बाद में अस्पताल लाये गये और वहाँ से कॉटेज में। रक्तचाप और गुरदे की शिकायतें थीं और बीच में तो वे इतने अच्छे हो चले थे कि सोचा ही जा रहा था कि उन्हें अब घर ले चलना चाहिए; परन्तु 'बड़े घर' की बुलाहट आ गई और लगभग ६० वर्ष की उम्र पूरी कर शास्त्रीजी चले गये। अभी उनका स्वास्थ्य काफी बुलन्द था और आशा थी कि वे अवश्य शतायु होंगे; परन्तु परमात्मा के विधान के सामने अपना हिसाब-किताब धरा ही रह जाता है।

डॉ० शास्त्री एक अतिशय सामान्य वैश्य (स्वर्णकार)-परिवार में जन्म लेकर अपनी प्रतिभा, परिश्रम, अध्यवसाय, लगन और सबसे अधिक विद्यानुराग के कारण भारतवर्ष के इने-गिने मनीषियों में अन्यतम पद के अधिकारी हुए और अपनी विद्या तथा चरित्र के बल पर उन्होंने जो कीर्त्ति अर्जित की, वह आनेवाली पीढ़ियों के लिए न केवल मार्गदर्शक, अपितु प्रेरक भी बनी रहेगी। लक्ष्य की निश्चितता तथा चलने का अविराम और अदम्य संकल्प—इन दोनों ने शास्त्रीजी के जीवन का निर्माण किया। कष्टों, कठिनाइयों, बाधाओं और विघ्नों की परवाह न करते हुए, उनके मस्तक पर पैर रखकर एक दिव्य मुस्कान और उल्लास के साथ वे जीवन-पथ पर आगे बढ़ते ही रहे, बढते ही गये और संकल्प की अमोघ तथा अजेय शक्ति के अविरल प्रवाह में व्यक्तित्व कंचन की तरह निखरता चला गया।

शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का निर्माण सिर से पैर तक उन तत्त्वों से हुआ था, जिन्हें हम एक सच्चे साहित्यकार और कलामर्मज्ञ में पाना चाहते हैं। हिन्दी, संस्कृत और दर्शन के चूडान्त विद्वान् होने के नाते वे अपनी योग्यता की छाप अपने युग पर सदा के लिए छोड़ गये हैं। परन्तु, उस पारदर्शी पाण्डित्य के पीछे उनके व्यक्तित्व की मधुरिमा,

विचित्रता यह कि जीवन की चरमतम ऊँचाई पर पहुँचकर भी वे 'मानव' पहले थे, पदाधिकारी पीछे। अपने-आप में वे इतने महान् थे कि उस महत्ता के लिए किसी बाहरी टीमटाम या प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रखते थे और गम्भीर-से-गम्भीर क्षणों में भी उनका विनोद और चुहल कभी परास्त होना नहीं जानती थी। दर्शन, साहित्य और साधना का वह सफल पुजारी, शील-सौन्दर्य का अनन्य उपासक, सत्य-शिव-सुन्दर को श्वास-प्रश्वास में अभिव्यक्त करनेवाला वह मूक साधक अपनी साहित्य-साधना और मधुर व्यक्तित्व की अमर-अमिट छाप समय की छाती पर छोड़कर हमसे सदा के लिए बिछड़ गया और अनन्त महासमाधि में लीन हो गया!

पुण्यश्लोक मालवीयजी महाराज

'सनातनधर्म' ने मुझे पूज्यचरण पुण्यश्लोक महामना मालवीयजी महाराज के सीधे सम्पर्क में ला दिया—मैं उनके परिवार का एक व्यक्ति बन गया, परम अन्तरंग। पूज्य मालवीयजी महाराज का चरित इतना महान् और इतना पवित्र था कि उनके स्मरण-मात्र से जीवन में महत्ता और पवित्रता का संचार हो जाता है। धर्म अपने प्रकृत रूप में कितना उदार, कितना सहिष्णु, कितना निर्मल, कितना व्यापक, कितना ऊँचा और कितना आकर्षक हो सकता है, इसका जीवन्त एवं जाज्वल्यमान उदाहरण पूज्य मालवीयजी महाराज का जीवन ही है। जैसा शुभ्र उनका वेश, वैसा ही शुभ्र उनका चरित्र। इनके सफेद कपड़ों पर कभी किसी ने नन्हा-सा भी दाग नहीं देखा। उनका चरित्र भी वैसा ही निष्कलुष एवं मनोज्ञ था। और कहा जा सकता है कि पूज्य मालवीयजी महाराज ने साँई से जैसी चादर पाई थी, बड़े जतन से उसे ओढ़ी और उसे ज्यों-की-त्यों मालिक के चरणों में धर दी। मालवीयजी धर्म की साक्षात् मूर्त्ति ही थे।

सेवा के क्षेत्र भी उनके विविध थे और सभी क्षेत्रों में उनकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। सन् १८६१ ई० के २५ दिसम्बर को उनका जन्म हुआ और सन् १९४६ ई० के १२ नवम्बर को निधन। उन्होंने निरन्तर साठ वर्षों तक विविध क्षेत्रों में देश की सेवा की—वह भी ऐसी पावन निष्ठा की सेवा, जो देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है और जो शताब्दियों तक आगे जानेवाली पीढ़ियों को प्रेरित और उत्साहित करती रहेगी।

हम वह दिन भूलते नहीं, जब कालाकांकर से निकलनेवाले 'हिन्दुस्तान-समाचार' का सम्पादन मालवीयजी ने केवल इसलिए छोड़ दिया कि उनकी शर्तों के प्रतिकूल कालाकांकर-नरेश ने उन्हें उस समय बुलाया, जब नरेश नशे में थे। मालवीयजी उदार थे। करुणा और दया से उनका हृदय लबालब भरा रहता था, परन्तु अपने सिद्धान्त पर वे अतिशय दृढ़ थे। ऐसी लोकोत्तर विभूतियों के बारे में ही 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' कहा गया है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आरम्भ से ही पूज्य मालवीयजी महाराज का राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के साथ अतिशय घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। उन्होंने चार बार सन् १९०९, १९१८, १९३[illegible] और १९३३ ई० में कांग्रेस के सभापतित्व का भार संभाला

मय-जैसी वस्तु तो वे जानते ही नही थे। राष्ट्र की मुक्ति के लिए अनेक बार उन्होंने कारावास के कष्ट सहे और देशवासियों को देश की बलिवेदी पर सर्वस्व होम करने के लिए प्रेरित किया। गान्धीजी के इक्कीस दिन के उपवास-काल मे मालवीयजी महाराज ने उनको जो श्रीमद्‌भागवत की अमृतकथा सुनाई, उसका प्रभाव गान्धीजी के जीवन पर अन्त तक बना रहा।

वह दृश्य भूलता नहीं, जब हिन्दू-विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर पधारे हुए राजा-महाराजाओ के बीच गान्धीजी का क्रान्तिकारी भाषण हुआ। सभी महाराजा, सरकारी पदाधिकारी, यहाँतक कि डॉ० एनी बेसेण्ट तक सभा छोड कर चल पड़ी, परन्तु मालवीयजी महाराज की गान्धीजी मे इतनी अटूट आस्था थी कि वे क्षण-भर के लिए भी विचलित नही हुए। काशी-विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर शुभ्र वस्त्रो मे पुनः मालवीयजी और गान्धीजी के एक साथ मंच पर दर्शन हुए। वह दृश्य आँखों से बिछुड़ता नही। कैसी विलक्षण थी वह जोड़ी!

स्वामी श्रद्धानन्दजी की हत्या के कुछ ही दिन पश्चात् लार्ड इरविन हिन्दू-विश्वविद्यालय के गायकवाड़-पुस्तकालय का शिलान्यास करने पधारे थे और उसके दूसरे दिन गान्धीजी पधारे। उसी मण्डप में, उसी मंच पर से गान्धीजी का भाषण हुआ। जनता का हृदय स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या से बहुत दु:खी था। गान्धीजी हरिजन-उद्धार के लिए कोष-संग्रह के निमित्त आये थे। सभा में मालवीयजी ने गले में लिपटी अपनी चादर फैलाते हुए कहा—'विश्वविद्यालय के अध्यापको, छात्रो, छात्राओ! जो कुछ भी तुम्हारे पास हो, भीख की इस झोली में डाल दो।' फिर क्या था, बहनों ने सोने की चूडियाँ, अँगूठियाँ, गले का हार, कान की बालियाँ, छात्रों और अध्यापकोने भी जिसके पास जो था, सब-का-सब चुपचाप सौंप दिया और कुछ ही समय में हरिजन-उद्धार-फण्ड मे विश्वविद्यालय से गान्धीजी को कई हजार रुपये और आभूषणादि मिल गये।

मालवीयजी का जीवन भारत की प्राचीन संस्कृति, आदर्शों और परम्पराओ की उदात्त भावनाओं से ओतप्रोत था। वे जीवन-भर इन परम्पराओं और आदर्शों से राष्ट्र को अनुप्राणित करते रहे। शिक्षा के क्षेत्र मे उनकी दृष्टि सर्वथा इन्ही आदर्शो से आलोकित थी। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना के समय जब उन्होने अपने संकल्प की चर्चा की, तब देश के अधिकांश व्यक्तियों ने उन्हे एक 'पागल ब्राह्मण' समझा। परन्तु, जब मालवीयजी का आदर्श विश्वविद्यालय के रूप में मूर्तिमान् होकर सामने आया, तब सबने उनके सामने श्रद्धा और भक्ति से सिर झुका लिया। हिन्दू-विश्वविद्यालय ही भारतवर्ष में एक ऐसा विश्वविद्यालय है, जो 'विश्वविद्यालय'

नाम को अक्षरशः सार्थक करता है और तक्षशिला, नालन्दा और विक्रमशिला—जैसे प्राचीन विश्वविद्यालयों की याद दिलाता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा और आधुनिक युग की अद्यतन वैज्ञानिक उपलब्धियों का जैसा मंगलमय सामंजस्य हिन्दू-विश्वविद्यालय में देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ क्या, असम्भव ही है। हिन्दू-विश्वविद्यालय मालवीयजी की अमर-अजर कीर्त्ति है। मालवीयजी महाराज के व्यक्तित्व का चमत्कार ही था कि देश के एक-से-एक मूर्धन्य विद्वान् हिन्दू-विश्वविद्यालय में नाममात्र का वेतन लेकर सेवा करने में अपना परम सौभाग्य एवं गौरव मानते थे। प्रायः सभी विभागों में देश-विदेश के चूडान्त मनीषियों को देखकर किसका हृदय गर्व से नहीं भर उठता था। मालवीयजी ने अपने जीवनकाल में ही डॉ० राधाकृष्णन् को हिन्दू-विश्वविद्यालय का उपकुलपति बनाया था। सेण्ट्रल हिन्दू-कॉलिज के प्रिंसिपल-पद पर आचार्य श्रीआनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव गान्धीजी के भेजे हुए थे। ध्रुवजी ज्ञान के विश्वकोष ही थे। ऐसे प्रिंसिपल अब कहाँ मिलते हैं? कहाँ मिलेंगे?

और कितनी मसृण, मधुर वाणी पाई थी मालवीयजी ने, धाराप्रवाह वे चार-चार घण्टे बोलते—क्या अँगरेजी और क्या हिन्दी; बोलते क्या, मधु की धारा बहाते और हजारों-हजारों की संख्या में श्रोता मन्त्रमुग्ध हो, उनकी अमृतवाणी का रसास्वादन करते। उस समय सभामण्डप में इतनी शान्ति विराजती होती कि यदि सूई भी गिरे, तो उसकी आवाज सुनी जाय। बोलने के पहले उनके मंगलाचरण के प्रिय श्लोक थे—

> कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
> नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥
> कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
> प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

छात्रों में बोलते समय प्रायः उपनिषद् के दो मन्त्रों पर विशेष बल देते—स्वाध्यायान्मा प्रमद, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः—स्वाध्याय में प्रमाद न करना और प्रजातन्तु का व्यवच्छेदन न करना। विश्वविद्यालय के प्रत्येक छात्र को वे सेवा का मन्त्र देते हुए कहते—'बेटा! कभी ऐसा कोई काम न करना, जिससे माँ के आँचल में कालिख लगे।' यह काफी गम्भीर अर्थ का बोधक और प्रेरक वाक्य था। जब कभी विश्वविद्यालय के पुरातन छात्र मिलते, तो वे उनसे तीन प्रश्न करते—१ सन्ध्या करते हो कि नहीं? २ दूध कितना पीते हो? और ३ कितनी सन्तान हैं? इन तीनों प्रश्नों के भीतर आध्यात्मिक, आधि-

दैविक और आधिभौतिक कुशल-क्षेम निहित था। मालवीयजी महाराज के आग्रह पर ही विश्वविद्यालय के 'धर्मशिक्षा-विभाग' में लोकमान्य तिलक के सहपाठी प्रोफेसर पाटणकर आये थे। लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था, चिरप्रसन्न मुद्रा, सिर पर मराठी रेशमी पगड़ी, पैरों में मराठी चप्पल और हाथ में छड़ी। जब कभी क्लास में आते, समाधि लग जाती, घण्टों पढ़ाते रहते आत्म विभोर होकर। स्वयं मालवीयजी महाराज भी जन्माष्टमी, रामनवमी, देवोत्थान एकादशी, गुरुपूर्णिमा तथा अन्य पर्वों पर जब काशी में होते, विश्वविद्यालय में अमृतमयी कथा बाँचते। उन कथाओं का अमृतपान जिन्होंने किया है, वे अपना भाग्य सराहते हैं और अबतक भी उन कथाओं का रस हमारे जीवन में ओतप्रोत है। कथा के लिए मालवीयजी रेशमी धोती, रेशमी चादर और पैरों में खड़ाऊँ पहने आते थे और व्यासासन से उपस्थित छात्र-समुदाय को जब 'बेटे और बेटियो!' सम्बोधित करते तब हम लोगों की छाती गर्व से भर जाती। शरीर तो उनका तपाये हुए सोने के रंग का था ही। पगड़ी, अँगरखा, गले में सलीके से तहाया हुआ लिपटा और घुटनों को छूता दुपट्टा, धोती या चौड़ी मोहरी का पैजामा, सफेद मोजे, पैरों में केनवस का सफेद जूता—सबका सब श्वेत, शुभ्र, दिव्य। उनके मस्तक का मलयचन्दन कभी मलिन न हुआ, किसी ने कभी भी उनके ललाट को चन्दन-विहीन नहीं देखा। मालवीयजी ने शायद कभी रंगीन कपड़ा पहना ही नहीं। जाड़े के दिनों में उनका अँगरखा, पैजामा कश्मीरी ऊन का होता, जो मलयचन्दन के रंग का होता। मुखाकृति पूर्णतः आर्य और चिरप्रसन्न। मालवीयजी की मुस्कानें कितनी मोहक थीं। बोलते, तो मानों मधु घोलते। हँसते, तो प्यार की फुलझड़ियाँ छोड़ते। उनकी मुस्कान और उनका अट्टहास दोनों ही संक्रामक थे। भोजन भी मालवीयजी का बहुत सादा था। फुलके और हरी तरकारियाँ, गाय का दूध और ताजा मक्खन और शहद उन्हें विशेष प्रिय था। धारोष्ण गोदुग्ध पर वे विशेष आग्रह रखते।

'सनातनधर्म' अखिलभारतीय सनातनधर्म-महासभा का साप्ताहिक मुखपत्र था और उसके अध्यक्ष पूज्य श्रीमालवीयजी महाराज थे। पत्र का सम्पादक होने के नाते मालवीयजी महाराज के निकटतम सम्पर्क में आने का परम सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। 'सनातनधर्म' ज्ञानमण्डल प्रेस में छपता था और विश्वविद्यालय से प्रकाशित होता था। उसमें प्रायः देश के मूर्द्धन्य लेखकों और विचारकों के लेख छपते थे। पूज्य मालवीयजी महाराज के नाम और यश का प्रताप था कि उसमें अपने-अपने लेख प्रकाशित करने के लिए देश के मूर्द्धन्य विद्वान् भी उत्सुक रहा करते थे। भाई परमानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, गोस्वामी गणेशदत्त, लाला लाजपतराय और श्रीमाधव श्रीहरि अणे मालवीयजी के अन्तरङ्ग सहकर्मी थे। मालवीयजी को 'आर्य'

शब्द बड़ा प्यारा था और संसार की सर्वश्रेष्ठ नैतिकता, सदाचार, उदारता, प्रेम, सहिष्णुता, परदुःखकातरता आदि उनके विशिष्ट उपादान थे। धर्म तो मालवीयजी का प्राण ही था—धर्मो रक्षति रक्षितः, 'जो हठ राखे धर्म को तेहि राखे करतार' —इन्हें बड़ा ही प्यारा लगता था। लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेन्स के समय या देश-भर में अपनी अतिव्यस्त यात्राओं में भी मालवीयजी ने धर्म की टेक न छोड़ी—यह उनके धर्मप्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। इस सम्बन्ध में वे गुरु गोविन्दसिंह के दो बच्चों का उदाहरण बराबर देते थे। महाभारत की कथा में द्रौपदी की लाजरक्षा के तथा श्रीमद्भागवत के गजेन्द्र-उद्धार के कथा-प्रसंग उन्हें विशेष प्रिय थे। महाभारत उनका परम प्रिय ग्रन्थ था, जिसे वे नियमित रूप से पढ़ते। श्रीकृष्ण के चरित्र की उदात्तता मालवीयजी के जीवन में ओतप्रोत थी। वे श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता पर विशेष बल देते और उनके आदर्श चरित के अनुकरण की प्रेरणा देते थे।

मालवीयजी को धर्म के विषय मे लिखना बहुत भाता था, परन्तु लिखने में उनके साथ एक कठिनाई थी कि एक ही वाक्य को बार-बार काटते, सुधारते, फिर लिखते, फिर सुधारते। जैसे अपने भावों को व्यक्त करने योग्य सशक्त उपयुक्त भाषा ही उन्हें नही मिल रही हो। जब तार देना होता, तो भी कभी-कभी देखा गया कि मजमून काफी लम्बा हो जाया करता और काफी काट-कूट होता और कभी-कभी तो तारघर से आदमी बुलाकर फिर तार का मजमून सुधरवाया जाता। अक्षर वे बहुत पुष्ट सुन्दर लिखते। देशी फाउण्टेन पेन और देशी स्याही ही उपयोग मे लाते। हर बात मे, छोटी-से-छोटी बात में भी स्वदेशी का ध्यान रखते। सन् १९०६ ई० से जबसे अपने देश में स्वदेशी आन्दोलन चला, मालवीयजी ने भरसक कोई विदेशी वस्तु का शायद ही उपयोग किया हो।

विद्वानों का आदर करना तो कोई उनसे सीखे। वे कहा करते थे कि 'विद्वान् रहते नहीं, रखे जाते हैं। जैसे बड़े नाज से बुलबुल पाली जाती है, वैसे ही मनस्वी विद्वान् भी रखे जाते हैं।' मालवीयजी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने संस्कृत के पण्डितों को भी वही वेतन, मान एवं प्रतिष्ठा दी, जो अँगरेजी के विभिन्न विषयों के विद्वानों को मिलती थी। मालवीयजी के उठ जाने के बाद वे विद्वान् निराधार हो गये। मालवीयजी के कुलपतित्व में हिन्दू-विश्वविद्यालय मे भारत क्या, विश्व के एक-से-एक विद्वान् अत्यन्त अल्प पारिश्रमिक लेकर हिन्दू-विश्वविद्यालय की सेवा करने के लिए जुट गये। विदेशों से आनेवालों में प्रिंसिपल किंग, प्रो० कोलन, प्रो० निक्सन, प्रो० पूल आदि के नाम सदा स्मरण आते रहेंगे। मालवीयजी का त्याग और सेवा-भावना के प्रतिफलित रूप थे आचार्य श्यामाचरण दे, जिन्हें पहले हम लोग 'डे साहब' और बाद में 'डे बाबा' कहने लगे थे। वे एक साथ विश्वविद्यालय में गणित-विभाग

के अध्यक्ष, सभी छात्रावासों के मुख्य वार्डन और विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे और यदि वे वेतन लेते, तो कम-से-कम ढाई हजार रुपये मासिक होता, परन्तु आजीवन कुल एक रुपया मासिक वेतन लेकर विश्वविद्यालय के सेवक-पद को गौरवान्वित करते रहे।

मालवीयजी सच्चे अर्थ में ब्राह्मण थे। गीता में ब्राह्मण के जिन स्वभावज धर्मों की चर्चा है, मालवीयजी में वे पूर्णतः परिव्याप्त थे—शम, दम, तपश्चर्या, पवित्रता, क्षमा, आर्जव, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता —

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

श्रीमती सरोजनी नायडू ने एक जगह लिखा है कि 'अपने समय के सबसे महान् हिन्दू और युगों-युगों के समस्त महान् हिन्दुओं में अतिमहान् मालवीयजी का जीवन हिन्दू-धर्म के महान् सार्वभौमिक आदर्शों का प्रतिबिम्ब है, जिसमें जाति और वर्ग की असमानता नहीं स्वीकार की जाती।' प्रेम और करुणा से वे इतने भरे थे कि लगता, वे सिर से पैर तक हृदय-ही-हृदय थे। मालवीयजी महाराज के निधन पर गान्धीजी ने हरिजन के अग्रलेख में लिखा था मालवीयजी नहीं रहे, मालवीयजी अमर हों—Malaviyaji is dead Long Live Malaviyaji. गान्धीजी उन्हें बराबर 'भारत-भूषण' लिखते थे और अपने को मालवीयजी का पुजारी कहते थे। दोनों का भ्रातृभाव संसार में अमर है।

शिक्षा के क्षेत्र में, देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के क्षेत्र में, राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास-क्षेत्र में एवं राष्ट्रीयता को दृढ़ करने के क्षेत्र मे मालवीयजी ने अपने पावन चरित्र एव देवोपम ब्रह्मप्रज्ञा द्वारा वह आदर्श उपस्थित किया है और अपने पीछे एक ऐसी स्मृति छोड़ गये हैं, जो आनेवाले युगों तक देशवासियो के हृदय मे चिर-काल तक जीवित रहेगी। जबतक सनातन हिन्दू-धर्म है, हिन्दुस्तान है, हिन्दू-विश्व-विद्यालय है, जबतक चन्द्रमा और सूर्य हैं, गंगा और यमुना हैं, तबतक पूज्य मालवीय-जी की अमल-धवल कीर्ति संसार में अमर है। ऐसे सुकृती महापुरुषों के यशः-शरीर का कभी अन्त नहीं होता—वे संसार को सही मार्ग पर चलाने के लिए ही आते हैं।

महायोगी श्रीअरविन्द

इस धराधाम से श्रीअरविन्द का यकायक अन्तर्धान एक गूढ़ पहेली है। वे अपने दिव्य पार्थिव शरीर को इस प्रकार अचानक छोड़कर अज्ञात लोक की ओर चल देंगे, इसका अनुमान न था। साधारण दृष्टि से देखने पर यही लगता है कि श्रीअरविन्द अब यहां नहीं हैं, परन्तु जिन्हें एक बार भी उनके दिव्य दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त है, वे यह जानते हैं कि श्रीअरविन्द का पार्थिव शरीर भी इतना दिव्य और अपार्थिव था कि उसका अन्त असम्भव है। वे हैं, शायद, शायद क्या निश्चय ही, पहले की भी अपेक्षा अधिक दिव्य सुषमा और ज्योति में अधिष्ठित, अपनी महिमा में विराजमान। वे सभी, जिन्हें एक बार भी श्रीअरविन्द के सम्पर्क में आने का सौभाग्य-संयोग मिला है, ऐसा ही अनुभव करते हैं अपने जीवन के बाह्य कर्माचार में अथवा अन्तस् की आत्मानुभूति में; यह अनुभव दो-चार दस बीस व्यक्तियों का नहीं है, यह है सहस्र-सहस्र साधक-साधिकाओं का, जिन्हें श्रीअरविन्द ने साधना के ज्योतिर्मय पथ पर अग्रसर किया है।

ऐसे महर्षि एवं योगेश्वर की जीवनकथा कुछ बाह्य घटनाओं के आधार पर क्या और कैसे अंकित की जाय? ये घटनाएँ तो सर्वथा ऊपरी हैं। उनका वास्तविक जीवन जिसका शुभारम्भ पाण्डिचेरी पहुँचने पर होता है, इतना मूक और गहन गम्भीर है कि उसकी थाह पाना असम्भव है। बाह्य घटनाएँ एक महान् तैयारी की सूचना अलबत्ता देती हैं और उनका महत्त्व इसी सन्दर्भ में है। आरंभ से ही यह स्पष्ट है कि श्रीअरविन्द इस पृथ्वी पर एक भगवदीय मिशन को लेकर आये और उनका प्रत्येक क्षण उस मिशन की पूर्ति में लगा। यहां से वहां तक एक ही अखण्ड असाधारण भावधारा का अविच्छिन्न सूत्र हाथ लग जाने पर यह साफ साफ झलकने लगता है कि योग की एक नई जीवन्त परिभाषा देकर और उसे आचरित कर और कराकर श्रीअरविन्द ने मानवता में एक नूतन आशा और उत्साह का संचार किया है। उदासी छँट गई है और एक दिव्य ज्योति मानव के चेतनालोक में उतर रही है। रात्रि का अन्तिम प्रहर अत्यन्त तिमिर ही जाता है पर तुरन्त ही उषा की अरुणिमा और प्रभात का प्रकाश पृथ्वी को एक दिव्य प्रेम में सराबोर कर देता है। इसी प्रकार आज जगत् में व्याप्त घोर अन्धकार एक महान् मंगलप्रभात का द्योतक है। इस तमोमय जड़ जगत् में उस दिव्य चेतना का अवतरण तथा मानव के आरोहण-क्रम में उस चेतना का संस्पर्श और आत्मसात् होना यही श्रीअरविन्द की योगप्रणाली का मूलाधार है। वे कहते हैं 'जो भगवान् का वरण करता है, उसे पहले ही से भगवान् वरण किये हुए हैं': 'He who chooses the Infinite has been chosen by the Infinite.'

जन्म तथा शैशव : सम्भवामि युगे युगे

श्रीअरविन्द के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म की कथा सर्वथा अलौकिक है। १५ अगस्त भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा; केवल इसीलिए नही कि इस तिथि को हमने अपनी सुदीर्घ दासता की बेडियों को तोड फेंका और राजनीतिक स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण मे सांस लिया, परन्तु इसलिए भी कि उसी तिथि को श्रीरामकृष्ण परमहंस ने महासमाधि ली और श्री अरविन्द ने इस पृथ्वी पर अवतार लिया। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता की जन्मतिथि तथा श्रीअरविन्दके जन्मग्रहण की तिथि एक ही हो, यह कोई आकस्मिक घटना नही है; प्रत्युत उसके पीछे स्पष्ट ही एक भगवदीय संकेत की चिन्मय सूचना है। निश्चय ही, राजनीतिक स्वतन्त्रता अपने आप में एक महान् वस्तु है, परन्तु उससे भी महान् है आध्यात्मिक जागरण, आध्यात्मिक चेतना की परिस्फूर्ति। १५ अगस्त भारत की आध्यात्मिक नवजागत्ति का दिव्य सन्देश लेकर आया है। दक्षिणेश्वर के परमहस रामकृष्ण देव की महासमाधि तथा योगी श्रीअरविन्द का प्राकट्य एक ही अविच्छिन्न योगधारा का व्यक्त स्वरूप है। जिस समय हमारा देश पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की चटकीली चकमकाहट की चकाचौंध मे पड़ा आत्मविस्मृत, मूर्च्छित एवं अवसन्न जड़ अवस्था में म्रियमाण हो रहा था, उसी समय रामकृष्ण ने अपनी सरल, निश्छल एवं प्रेममयी वाणी मे बतलाया कि भारत की संस्कृति का उद्बोधन उसकी आत्मज्योति मे है। यही भारतीय चेतना का प्राण है, जिसे उन्होंने 'माँ' कहा। श्रीपरमहंस देव की साधना और सिद्धि की यही है अधिष्ठातृदेवी। श्रीपरमहंस देव भारत की राजनीतिक जीवनधारा को सम्यक् रूप से प्रभावित नही कर सके, वे राजनीति मे आध्यात्मिक चेतना को न उतार सके। यह काम जहाँ-का-तहाँ पड़ा था और इसे पूरा करने के लिए ही श्रीअरविन्द इस धराधाम पर अपनी पूर्ण शक्ति एवं ज्योति के साथ आये। इसीलिए अन्तर्दृष्टि से देखनेवालों के लिए श्रीअरविन्द की जन्मतिथि तथा भारतीय स्वातन्त्र्य की जन्मतिथि की एकता कोई आकस्मिक घटना नही है, वरन् इसमे है दिव्य भागवत सकेत।

सन् १८७२ ई० के १५ अगस्त को पाँच बजे प्रातःकाल कलकत्ते में श्रीअरविन्द का प्रादुर्भाव माता श्रीमती स्वर्णलता देवी की कोख से हुआ। श्रीअरविन्द के पिता डॉ० कृष्णधन घोष पूरे 'साहब' थे। वे आइ० एम्० एस्० तो थे ही, पर उन्हे पाश्चात्य संस्कृति, वेशभूषा एवं जीवन-शैली पर विशेष आस्था थी। वे अपने बच्चों को पूरे 'साहब' बनाने के लिए कटिबद्ध थे, हर प्रकार से, शिक्षा-दीक्षा से, रहन-सहन से, बातचीत से, संग-साथ से। इसीलिए, उन्होंने महज पाँच वर्ष की

अवस्था में ही श्रीअरविन्द को इनके दो भाइयों—विनयभूषण और मनमोहन के साथ दार्जिलिंग के एक सुप्रसिद्ध कन्वेंट स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भेज दिया। वहाँ केवल दो ही वर्ष रहने के बाद, सन् १८७९ ई० में अपने बड़े भाइयों के साथ श्रीअरविन्द इंग्लैण्ड पढ़ने-लिखने के लिए चले गये।

यहाँ संक्षेप में तत्कालीन बंगाल की राजनीतिक-आध्यात्मिक परिस्थिति तथा घोस-परिवार के उसकी गतिविधि पर प्रभाव के सम्बन्ध में चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा। उस समय बंगाल में दो भावधाराएँ बड़े प्रबल वेग से बह रही थीं और वहाँ के शिक्षित समाज को प्रभावित कर रही थीं। एक थी हिन्दू-राष्ट्रवाद की और दूसरी थी पाश्चात्य सभ्यता पर आधृत भारतीय अध्यात्मवाद की। पहली धारा के विचारक भारतीय जीवन के अन्तराल में प्रसुप्त भारतीय चेतना, संस्कृति तथा आदर्श को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे। दूसरी धारावाले व्यक्ति उनकी इस 'दकियानूसी' विचारधारा की मखौल उड़ाते थे और यह चाहते तथा कहते और मानते थे कि भारत का उद्धार सर्वथा पश्चिम की नकल करने से ही हो सकता है। श्रीअरविन्द के प्रारम्भिक जीवन पर इन दोनों ही विचारधाराओं का सम्यक् प्रभाव पड़ा। श्रीअरविन्द के नाना थे श्रीराजनारायण बोस, जो आधुनिक बंगाल के प्रमुख विधायकों में हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी हिन्दू कॉलेज में, जिसे उस समय के प्रमुख हिन्दू-नेताओं तथा अँगरेजी सरकार ने मिलकर खोला था। राजनारायण बोस ने अपना जनजीवन एक समाज एवं धर्म-सुधारक के रूप में शुरू किया। पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता की देन को पूरा-पूरा मानते और जानते हुए भी राजनारायण बोस ने भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता को ही अपने आचार-विचार का मूलाधार माना। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रस्थापित ब्राह्मसमाज में सम्मिलित होने पर बाद में केशवचन्द्र सेन के समय राजनारायण बोस ने यह अनुभव किया कि इसमें राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव है और इसीलिए उससे हटकर इन्होंने 'आदिब्राह्मसमाज' की स्थापना की। इनके सामने देश की समस्त पूर्वाजित शक्ति एवं संस्कृति का समग्र रूप था और इसी के आधार पर इन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के विषैले, पर मोहक प्रभाव का डटकर सामना किया। केशवचन्द्र सेन हिन्दू-धर्मशास्त्र तथा बाइबिल के सिद्धान्तों को समान रूप से आदर देना चाहते थे, परन्तु इसके विपरीत श्री राजनारायण बोस भारतीय धर्मशास्त्र को पाश्चात्य धर्मग्रन्थों से महान् एवं श्रेष्ठ मानते थे और अपनी इस मान्यता का खुले आम प्रचार भी करते थे। केशवचन्द्र सेन पाश्चात्य सभ्यता की नींव पर भारतीय संस्कृति का महल खड़ा करना चाहते थे। परन्तु राजनारायण बोस भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता, भारतीय

आदर्श एवं जीवनचर्या को पाश्चात्य संस्कृति, सभ्यता एवं जीवनचर्या से श्रेष्ठ मानते थे। इतना ही नही, उन्होंने यह देखा कि भारत के बाजार विदेशी वस्तुओं से पट रहे थे; अस्तु, उन्होंने डटकर इसका विरोध किया, जो आगे चलकर 'स्वदेशी आन्दोलन' के नाम से अभिहित हुआ। उन्होंने 'हिन्दू मेला' लगवाया, जो पहली राष्ट्रीय औद्योगिक प्रदर्शनी थी। उन्होंने राष्ट्र के युवकों को लाठी, माला, तलवार आदि का अभ्यास करने तथा शारीरिक विकास की ओर प्रोत्साहित किया और उनकी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से बंगाल में एक अभिनव भारतीय सस्कृति की धारा पूरे वेग से बह चली। राजनारायण बोस खुले रूप में तो राजनीति मे नही उतरे, परन्तु उनकी वाणी और लेखनी ने बगाल के नवयुवकों को आत्मसम्मान की भावना से शराबोर कर दिया।

राजनारायण बोस थे तो घोर पुरातनवादी, परन्तु उनके पुरातनवाद का आधार था भारत की पुरातन संस्कृति के प्रति अनन्य प्रेम एव अटूट आस्था। भावनाप्रधान देशभक्ति जिसके मूल में है, ऐसा देशाभिमान, राष्ट्र की गौरवभावना और जातीय सम्मान, राजनारायण बोस के समस्त कार्य एवं विचारों मे अनुस्यूत है। उन्होंने भारतीय, इस्लामी तथा योरोपीय सभ्यता की समस्त अच्छाइयों को स्वीकार किया। जब वे ब्रह्मज्ञान पर प्रवचन करने लगते, तब उपनिषदों के मन्त्रों की ऐसी जीवन्त व्याख्या करते कि श्रोताओं मे ज्ञान का प्रकाश उद्भासित हो जाता। जब वे सूफी कवियों की रुबाइयाँ गाने लगते, तब उनका सारा शरीर प्रेम के रस में शराबोर हो जाता और वे प्रेम मे बेसुध बेसँभार आत्मविभोर हो जाते और जब राजनीति का विश्लेषण करने लगते, तब पाश्चात्य सभ्यता के हिमायती साहबों के दिमाग ठंडे पड़ जाते। इस प्रकार, राजनारायण बोस राममोहन राय की भाँति हिन्दू महर्षि, मुस्लिम सूफी और ईसाई धर्मज्ञाता थे। बंगाली साहित्य के तीव्र प्रकाण्ड पण्डित एवं पथप्रदर्शक थे ही। 'माडर्न रिव्यू' ने एक बार उन्हें 'भारतीय राष्ट्रवाद का पितामह' कहा था। ऐसे राजनारायण बोस थे श्रीअरविन्द के नाना।

जहाँ मातृपक्ष से श्रीअरविन्द को प्राचीन भारतीय संस्कृति की परमोत्तम देन मिली थी, वहाँ ठीक इसके विपरीत पितृपक्ष से विरासत में उन्हें मिली पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की उन्मादना। इनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष एक पाश्चात्य रंग मे रँगे भारतीय थे। अँगरेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता की छाप उनपर खूब गहरी थी। इनकी शिक्षा-दीक्षा विलायत में हुई थी और भारतवर्ष में आने के बाद ये इण्डियन मेडिकल सर्विस मे सम्मिलित हुए। ये अपने समय के सबसे अच्छे शल्यचिकित्सक (surgeon) थे। बाहर-बाहर से अँगरेजियत

में ये आपादमस्तक रँगे हुए थे, परन्तु अँगरेजी लिबास के अन्दर एक भारतीय हृदय और भारतीय आत्मा अपने सरल निश्छल रूप में विद्यमान थी। दीन-दुःखियों के प्रति इनके हृदय में अपार ममता थी और उनके लिए इनकी थैली सदा खुली रहती थी। इनके आसपास गरीब बेवा बेकसों की भीड़ लगी रहती और उनकी सेवा-सहायता करने में इन्हें अपूर्व सुख मिलता। और उनकी यह दीनवत्सलता इस सीमा पर पहुँच गई थी कि प्रायः परिवारवालों को अभाव या कष्ट का सामना करना पड़ता। इन्होंने अँगरेजियत के शौक में अपने बच्चों को शिक्षा-दीक्षा के लिए विलायत भेज तो दिया था, किन्तु अपनी दीनवत्सलता के स्वभाव से ये सर्वथा विवश थे और यहांतक कि ये अपने बच्चों को समय पर खर्च नहीं भेज पाते थे, जिसके कारण उन्हें कभी भयानक कठिनाइयों एवं संकोच का सामना करना पड़ता। इतने धनाढ्य पिता के पुत्र होते हुए भी श्रीअरविन्द को, विनयभूषण और मनमोहन को विलायत में घोर अभावों के बीच रहना पड़ता। डॉ० कृष्णधन धन-दौलत को कोई चीज ही नहीं मानते थे। स्वभाव से अतिशय उदार, बुद्धि में सतेज, हृदय के कोमल, अपनी आवश्यकताओं की ओर से लापरवाह; परन्तु परदुःखकातर—ऐसे थे डॉ० कृष्णधन। अमीर लोग इनकी अतिशय उदारता पर इन्हें कोसते थे, दुनियादार लोग इनकी सरलता पर खीझते थे, परन्तु स्वयं डॉ० कृष्णधन अपनी दीनवत्सलता पर इतने मुग्ध थे कि यह स्वयं उनकी प्रकृति का अंग हो गई थी। दीन-दुःखी बेवा बेकस अनाथ मजलूम और यतीमों की इनके घर पर बराबर भारी भीड़ लगी रहती थी। डॉ० कृष्णधन ने मरने के पीछे एक पैसा भी अपने बाल-बच्चों के लिए नहीं छोड़ा, पर उनकी मृत्यु से सबसे अधिक अनाथ हो गये वे बिचारे दीन-दुःखी, जो इनके आश्रय में पलते-पुसते थे। इतनी विचक्षण बुद्धिवाले, उदारता की साक्षात् प्रतिमा, परोपकार की मूर्ति, दुनिया में रहते हुए दुनियादारी से अलग—ऐसे थे डॉ० कृष्णधन घोष—योगी श्रीअरविन्द के पिता। इस प्रकार, हम देखते हैं मातृपक्ष और पितृपक्ष से श्रीअरविन्द को एक दिव्य आध्यात्मिक शक्ति, प्रेरणा, साधन एवं प्रवृत्ति विरासत में मिली थी। उनके योगजीवन में इन्हीं महान् गुणों का अत्यन्त विकसित रूप हमें देखने को मिलता है।

इंगलैंड में विद्यार्थी : मत्प्रसादात्तरिष्यसि

विलायत में श्रीअरविन्द एक प्राइवेट स्कूल में प्रविष्ट हुए और एक अँगरेज परिवार 'ड्विेट फैमिली' में रहने लगे। इनके भाई विनयभूषण और मनमोहन मैंचेस्टर के ग्रामर स्कूल में दाखिल हुए। श्रीअरविन्द की शिक्षा-दीक्षा का

सारा भार श्रीमान् और श्रीमती डिवेट पर पड़ा। श्रीअरविन्द के पिता डॉ० कृष्णधन घोष अँगरेजियत के इतने श्रद्धालु थे कि इन्होंने अपने पुत्र का नाम अरविन्द अक्रायड घोष (Aurobindo Acroid Ghosh) रखा था, जिसे संक्षेप मे श्रीअरविन्द 'A. A. Ghosh' लिखा करते थे। परन्तु, भारत लौटने पर श्रीअरविन्द ने अपने नाम में से 'अक्रायड' निकाल फेंका। डिवेट महोदय लैटिन के एक प्रकाण्ड पण्डित थे। इस प्रकार, श्रीअरविन्द को प्रारम्भ मे ही लैटिन के प्रति विशेष प्रवृत्ति की प्रेरणा देनेवाले थे डिवेट और इसका इतना शुभ परिणाम हुआ कि जब श्रीअरविन्द सन् १८८५ ई० मे लन्दन के सन्त पाल स्कूल मे प्रविष्ट हुए, तो वहाँ के हेडमास्टर ने इनकी विशेष प्रतिभा से प्रभावित होकर स्वयं इन्हें ग्रीक पढ़ाने मे विशेष अभिरुचि प्रकट की और सन् १८८९ ई० मे श्रीअरविन्द कुल सत्रह वर्ष की अवस्था मे कैम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में प्रविष्ट हुए, जहाँ ये दो वर्ष रहे। ग्रीक और लैटिन के अतिरिक्त फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, स्पेनिश आदि भाषाओं मे भी श्रीअरविन्द की विशेष गति थी। कैम्ब्रिज में श्रीअरविन्द प्रथम श्रेणी में 'ट्रायपास' उत्तीर्ण हुए। सन् १८९० ई० में आइ० सी० एस्० की परीक्षा मे उत्तम श्रेणी मे सम्मान-सहित उत्तीर्ण हुए। परन्तु, घुड़सवारी मे सम्मिलित न होने के कारण ये असफल घोषित हुए और इसीलिए आइ० सी० एस्० की सरकारी नौकरी से वंचित रहे। पर, श्रीअरविन्द के मन में कोई और बात हलचल मचाये हुए थी। वे आइ० सी० एस्० के दूषित वात्याचक्र से मुक्त होकर देश की सेवा और मातृभूमि के उद्धार मे लगना चाहते थे। उनके पिता डॉ० कृष्णधन इन्हें समय-समय भारतीय समाचारपत्रों की कतरनें भेजा करते थे, जिनमें कुछ अंश विशिष्ट रूप से विह्नित हुआ करते थे। इन कतरनो मे अँगरेजी शासन के काले कारनामों का विवरण रहा करता था, उसके अन्याय और जुल्म की रक्तरंजित कथाएँ रहा करती थी। श्रीअरविन्द ने विलायत मे ही यह निश्चय कर लिया था कि देश को इन विदेशियो के पंजे से छुड़ाना है, मुक्त करना है। इस अभिप्राय के कुछ भाषण उन्होंने 'इंडियन मजलिस' मे दिये थे। उनके इन भाषणों का प्रभाव अधिकारी-वर्ग पर इतना बुरा पड़ा कि उन्होने इन्हे आइ० सी० एस्० में सम्मिलित करने मे आपत्ति खड़ी कर दी। परन्तु, श्रीअरविन्द के मन में आइ० सी० एस्० होकर देश के शासकवर्ग मे सम्मिलित होने की न प्रवृत्ति ही थी, न आकांक्षा ही। और, यदि वे आइ० सी० एस्० हो भी जाते, तो या तो किसी जिले के कलक्टर होते, या किसी प्रान्त के गवर्नर। पर उनके कन्धे पर तो था भगवान् के महान् मिशन का भार, उनके हृदय में जल रही थी वह दिव्य ज्योति, जो उन्हें बाहरी किसी भी व्यवस्था में सुचित्त होकर जमने नही दे रही थी। इगलैंड मे

रहते हुए उन्होंने एक गुप्त संस्था 'लोटस ऐन्ड डैगर' कायम की, जिसकी कुल एक ही बैठक हो सकी। इस संस्था का लक्ष्य था दादाभाई नौरोजी जैसे नरम दल के नेताओं की नरम नीति का सक्रिय प्रतिवाद एवं खण्डन—शापादपि शरादपि। इस गुप्त क्रान्तिकारी संस्था के प्रत्येक सदस्य ने यह व्रत लिया कि चाहे जिस प्रकार हो विदेशी शासन का भारत से अन्त ही करना है, परन्तु यह संस्था चल न सकी, यद्यपि श्रीअरविन्द अपने व्रत में पूर्णतः परिनिष्ठित एवं दृढ़ रहे। इंगलैण्ड में रहते हुए श्रीअरविन्द को घोर आर्थिक कष्ट एवं भौतिक कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ा; क्योंकि इनके पिता डॉ० कृष्णधन पूरे फक्कड़ आदमी थे, सिर से पैर तक मस्तराम। अपनी मस्ती में वे अपने पास जो कुछ होता, दीन-दुःखियों में बाँट दिया करते और यह आदत यहाँतक पड़ गई कि उन्हें अपने पुत्रों के लिए खर्च भेजने का भी ध्यान न रहता। श्रीअरविन्द ने दिलीप को लिखे अपने एक पत्र में लिखा है कि कभी-कभी उन्हें अर्थाभाव के कारण निराहार ही रह जाना पड़ता था।

श्रीअरविन्द अभी पूरे बीस वर्ष के भी नहीं हुए थे, पर उन्होंने अनेकानेक पाश्चात्य भाषाओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। पूरे चौदह वर्ष तक इंगलैंड में रहने पर भी, अपनी संस्कृति और सभ्यता से नितान्त विच्छिन्न रहते हुए और पाश्चात्य सभ्यता में पले और पगे हुए होने पर भी भारत की आत्मा का उद्बोधन करने का रहस्यमय भार श्रीअरविन्द के ही कन्धे पर था और उन्होंने देश को एक छोर से दूसरे छोर तक उद्बोधित किया भी।

बड़ौदा में—[अध्यापक] : मामेवैष्यसि असंशयम्

आइ० सी० एस्० न हुए; तो न हुए पर कुछ करना तो था ही। अब क्या हो! महाराज गायकवाड़ बड़ौदा उन दिनों संयोग से इंगलैंड में ही थे। सर हेनरी कॉटन के भाई ने उनसे श्रीअरविन्द का परिचय कराया और महाराज ने इन्हें बड़ौदे की सर्विस में स्वीकार कर लिया। चौदह वर्ष विदेश में रहने के अनन्तर स्वदेश लौटते श्रीअरविन्द को अपार आनन्द मिला। उन्होंने गंगा और हिमालय की प्यार-भरी पुकार सुनी। उसी समय की मनोदशा का चित्रण श्रीअरविन्द की निम्नलिखित पंक्तियों में किस भावुकतापूर्ण भाषा में हुआ है :

> Me from her lotus heaven Saraswati
> Has called to regions of eternal snow
> And Ganges pacing to the southern sea,
> Ganges upon whose shores the flowers of Eden blow.

फरवरी, १८९३ ई० में श्रीअरविन्द ने इंगलैंड से भारत के लिए प्रस्थान किया। इनके भारत पहुँचने के पहले ही इनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष का निधन हो चुका था, पर यह एक बड़ी ही करुण एवं मार्मिक दुःखकथा है। किसी ने डॉ० कृष्णधन से कह दिया कि श्रीअरविन्द जिस जहाज से चले थे, वह लिस्बन के निकट आकर डूब गया। डॉ० कृष्णधन बड़े साहसी और वीर पुरुष थे, पर पुत्र के सम्बन्ध मे इस आकस्मिक मृत्यु के दु:ख को वे सह न सके और ठीक जैसे दशरथ ने 'हा राम, हा राम' कहते प्राण छोड़े थे, उसी प्रकार डॉ० कृष्णधन ने भी 'हा अरविन्द, हा अरविन्द' कहते प्राण विसर्जित किये। जहाज डूबने की बात सच थी, पर उस जहाज में श्रीअरविन्द नही थे। वे उस जहाज के छूटने के तुरत बाद एक दूसरे जहाज से चले थे। तीनों भाई यथासमय भारत आये; विनयभूषण ने महाराज कूचबिहार के यहाँ नौकरी कर ली, मनमोहन कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में अँगरेजी के प्रोफ़ेसर हो गये और श्रीअरविन्द बड़ौदा-राज्य की सेवा मे प्रविष्ट हुए।

बड़ौदा-राज्य में श्रीअरविन्द पूरे तेरह वर्ष रहे—सन् १८९३ से १९०६ ई० तक। पहले वे रेवेन्यू और सेटलमेंट विभाग में रहे, काम सीखने के लिए; और फिर स्टैम्प्स और रेवेन्यू-विभाग में विधिवत् काम करने लगे और फिर इसके बाद महाराज के सेक्रेटेरियट मे आ गये, जहाँ विदेश के साथ पत्र-व्यवहार एव 'डिसपैचेज' का काम करते रहे। परन्तु, अन्ततः वे बड़ौदा-कॉलेज मे अँगरेजी के प्रोफ़ेसर हो गये और तुरन्त सात सौ रुपये मासिक वेतन पर कालेज के वाइस प्रिंसिपल। श्रीअरविन्द का बड़ौदा-प्रवास घोर साधना तथा विकट आत्मसंयम का समय रहा। साहित्यिक साधना एवं आध्यात्मिक अनुभव का श्रीगणेश बड़ौदा में ही हुआ और बाद में पाण्डिचेरी से जो कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ, उसकी अधिकांश कविताएँ बड़ौदा मे ही लिखी गई थीं। बड़ौदा में उनके सबसे घनिष्ठ एव परम आत्मीय मित्र थे लेफ्टिनेण्ट माधवराव यादव। राजनीतिक विचार-सरणि एवं क्रियाचार में माधवराव अभी तथा बाद मे भी इनके सच्चे साथी, सखा, सहायक, मित्र और प्रेमी रहे। बड़ौदा में रहकर श्रीअरविन्द ने गुजराती, मराठी तथा संस्कृत का विशेष अभ्यास किया; क्योंकि विदेश में रहकर इन्हें भारतीय भाषाओं के अनुशीलन का न अवसर मिला था, न अवकाश। भारतीय अध्यात्मवाद की पहली झलक इन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव तथा स्वामी विवेकानन्द के वचनामृत मे मिली थी। विवेकानन्द के प्रति श्रीअरविन्द के मन में सम्मान का भाव था, पर रामकृष्ण के प्रति थी गम्भीर श्रद्धा। परन्तु 'योग' के प्रति श्रीअरविन्द का रुझान अभी न था। कैम्ब्रिज मे इनके मित्र श्रीदेशपाण्डे ने इन्हें योगाभ्यास के लिए राय दी थी, परन्तु इसे ये जीवन से पलायन कहकर छोड़ते रहे। रात-दिन सारा-का-सारा समय इनका पढ़ने-लिखने में ही बीतता,

कविता लिखने की विशेष प्रवल प्रेरणा तथा प्रवृत्ति बड़ौदा मे बराबर बनी रहती। वहां इनके साथ दिनेन्द्रकुमार राय एक मित्र और सखा के रूप मे रहा करते और उनका काम था श्रीअरविन्द को बँगला बोलने-लिखने में विशेष प्रगति प्रदान करना। दिनेन्द्रकुमार राय ने एक स्थान पर श्रीअरविन्द का वर्णन करते हुए लिखा है कि विलायत से लौटे हुए साहब की कल्पना से श्रीअरविन्द से मिलते डर लगता था, परन्तु जब उनसे मिला, तब देखा कि एक सीधा-सादा व्यक्ति, देशी मिरजई और देशी चादर तथा देशी जूते में सरलता, सादगी और सौम्यता की जैसे मूर्त्ति ही हों, हमारे सामने विराजमान है।

बड़ौदा-निवास में ही सनातनधर्म की रीति से श्रीअरविन्द का विवाह परम रूपमती श्रीमती मृणालिनी देवी से हुआ। आप भूपालचन्द्र बसु की कल्याणी कन्या थीं। यहां इनका जीवन सामान्यतः सुख और सुविधाओं का जीवन कहा जा सकता है, यद्यपि इनके जीवन में बाह्य प्रदर्शन तथा व्यर्थ की चकाचौंध और तड़क-भड़क कभी नहीं आने पाई। अपनी पत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी के नाम लिखे इनके कुछ ही पत्र मिलते हैं। इन पत्रों में इनकी साधना में भागवत संकल्प की इष्टसिद्धि स्पष्टतः व्यंजित हो रही है। इन्होंने लिखा है :-

"सम्भवतः इस बीच तुम्हें इस बात का पता चल गया है कि जिसके भाग्य के साथ तुम्हारा भाग्य जुड़ा हुआ है, वह बड़ा ही विचित्र मनुष्य है। इस देश में आजकल के लोगों का जैसा मनोभाव है, उनके जीवन का कैसा उद्देश्य है, कर्म का जैसा क्षेत्र है, ठीक वैसा ही मेरा नहीं है; सब कुछ ही भिन्न, असाधारण है। सामान्य लोग असाधारण मत, असाधारण प्रयास, असाधारण उच्च आशा को जो कुछ कहते हैं, उसे सम्भवतः तुम जानती हो। इन भावों को वे पागलपन कहते हैं। ..पागल तो पागलपन के रास्ते दौड़ेगा ही, तुम उसे पकड़कर नहीं रख सकती, तुम्हारी अपेक्षा उसका स्वभाव ही अधिक बलवान् है। तो, फिर क्या तुम एक कोने में बैठकर केवल रोओगी, या उसके साथ ही दौड़ोगी ? . . .मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन यह है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या तथा जो धन दिया है, वह सब भगवान् का है, जो कुछ परिवार के भरण-पोषण में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है, उसी को अपने लिए खर्च करने का अधिकार है, उसके बाद जो कुछ बाकी रह जाता है, उसे भगवान् को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब कुछ अपने लिए, सुख के लिए, विलास के लिए खर्च करूँ, तो मैं चोर कहलाऊँगा। . . .इस दुर्दिन में समस्त देश मेरे द्वार पर आश्रित है, मेरे तीस कोटि भाई-बहन इस देश में हैं, उनमें से बहुतेरे अन्न न होने से मर रहे हैं, अन्य कष्ट और दुःख से जर्जर होकर किसी प्रकार बचे हुए हैं, उनका हित करना

होगा। . .क्या कहती हो, इस विषय मे मेरी सहधर्मिणी बनोगी, केवल सामान्य लोगों की तरह खा-पहनकर, ठीक-ठीक जिस चीज की जरूरत है, उसे ही खरीदकर, और सब भगवान् को दे दूँगा—यही मेरी इच्छा है। अगर तुम भी सहमति दो, त्याग स्वीकार कर सको, तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। तुम बोल रही थी, 'मेरी कोई उन्नति नही हुई।' यही एक उन्नति का पथ दिखा दिया, क्या इस पथ पर चलोगी? . . .

दूसरा पागलपन हाल मे ही सिर पर सवार हुआ है, पागलपन यह है कि चाहे जैसे हो, भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा। आजकल का धर्म है, बात-बात मे मुँह से भगवान् का नाम लेना, सबके सामने प्रार्थना करना, लोगों को दिखाना कि मैं कितना धार्मिक हूँ। मैं उसे नही चाहता। ईश्वर यदि हैं, तो उनके अस्तित्व का अनुभव करने का, उनके साथ साक्षात् करने का कोई-न-कोई पथ होगा, वह पथ चाहे कितना भी दुर्गम क्यों न हो, उस पथ से जाने का मैंने दृढ संकल्प कर लिया है। हिन्दू-धर्म का कहना है कि अपने शरीर के, अपने मन के भीतर वह पथ है। जाने का नियम दिखा दिया है, उस सबका पालन करना आरम्भ कर दिया है, एक मास के अन्दर अनुभव कर सका हूँ कि हिन्दूधर्म की बात झूठी नही है, जिन-जिन चिह्नों की बात कही है, उन सबकी उपलब्धि कर रहा हूँ। अब मेरी इच्छा है कि तुमको भी इस पथ से ले जाऊँ। . . .तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी-भर जानते हैं; मैं स्वदेश को माँ जानता हूँ, भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ। . . . मैं जानता हूँ कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है, शारीरिक बल नही, तलवार या बन्दूक लेकर मैं युद्ध करने नही जा रहा हूँ, ज्ञान का बल है। क्षात्रतेज एकमात्र बल नही है, ब्रह्मतेज भी है, वह तेज ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित होता है।" (श्रीअरविन्द के पत्र, पृ० २)।

अध्यापक रूप मे श्रीअरविन्द बहुत ही लोकप्रिय हुए। उनके शिष्यों में श्रीकन्हैयालाल मुंशी जैसे व्यक्ति थे। छात्र इनके प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति रखते थे, क्योंकि अपार विद्या के साथ अचिन्त्य सरलता इनकी ऐसी विशेषता थी, जो अन्यत्र दुर्लभ क्या, असम्भव थी। श्रीअरविन्द भारतीय छात्र-जीवन को पाश्चात्य छात्र-जीवन से जब मिलाते, तब उनका हृदय करुणा से भर आता। वे देखते, यहाँ के दुर्बलकाय निस्तेज निर्वीर्य छात्रसमुदाय को, जिनमें पढने और पढकर नौकरी पाने के सिवा जीवन में कोई लक्ष्य रह नही गया था, कोई उत्साह या उल्लास नही रह गया था।

श्री के० जी० देशपाण्डे के सम्पादकत्व मे उन दिनों 'इन्दु प्रकाश' निकल रहा था। उसमें कल्पित नाम से श्रीअरविन्द ने 'New Lamps for Old' शीर्षक एक

लेखमाला लिखी, जिसमें इनकी अपार विद्वत्ता, अपूर्व चिन्तनशैली तथा विलक्षण भावविन्यास का पता पाठकों को लगा और वे जानना चाहते थे कि इस लेखमाला का विलक्षण लेखक कौन है। आरम्भ में ही श्रीअरविन्द ने यह प्रश्न उठाया कि यदि अन्धे ही अन्धे का नेतृत्व करें, तो परिणाम होगा, सब-के-सब गड्ढे में जा गिरेंगे। उन्होंने बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में लिखा कि हमारा वास्तविक शत्रु बाहर नहीं, अपितु हमारे अन्दर की दुर्बलताएँ हैं। श्रीअरविन्द की इस लेखमाला से बड़ी सनसनी फैल गई और महादेव गोविन्द रानाडे जैसे व्यक्ति भी घबरा गये कि यदि यह लेखमाला चलती रही, तो वे अवश्यमेव गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। इस कारण, वह लेखमाला अपने पूरे विस्तार और प्रभाव के साथ, जैसा उसका आरम्भ हुआ था, आगे न चल सकी।

माइकेल मधुसूदन की कविताओं तथा बंकिमचन्द्र के उपन्यासों ने श्रीअरविन्द को बड़ौदा-निवास में विशेष आनन्द प्रदान किया। श्रीअरविन्द ने सन् १८९४ ई० में 'इन्दुप्रकाश' में बंकिमचन्द्र पर सात लेख लिखे, इसी से पता चलता है कि वे बंकिम-चन्द्र से कितने प्रभावित हुए थे। उन्होंने बंकिमचन्द्र को बराबर 'ऋषि बंकिम' कहा है।

श्रीअरविन्द में भारतीयता की भावना अधिकाधिक गहरी होती जा रही थी। इतना ही नहीं, सनातनधर्म में उनकी आस्था दृढ़ से दृढ़तर होती जा रही थी। इनका विवाह शुद्ध सनातनधर्म की रीति से हुआ था। उन्होंने केवल बौद्धिक विकास को उतना महत्त्व नहीं दिया, प्रत्युत वे जीवन की पूरी गहराई में उतरकर योग द्वारा आत्मशक्ति को उद्बुद्ध करने में संलग्न हो गये। गुरु की खोज हुई, पर गुरु मिले नहीं। श्रीरामकृष्ण ने तो कहा है कि गुरुओं की कमी नहीं है कमी है, शिष्यों की, शिष्य ही नहीं मिलते। नर्मदा के तट पर रंगनाथ में गंगामठ के स्वामी ब्रह्मानन्दजी के दर्शन हुए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी का नियम था कि वे किसी की ओर देखते नहीं थे पर जब श्रीअरविन्द इनसे मिले, तब स्वामीजी एकटक इनको देखने लगे और देखते ही रहे। स्वामीजी के एक शिष्य ने श्रीअरविन्द को प्राणायाम की विधि बतलाई और श्रीअरविन्द छः-छः घण्टे तक प्राणायाम करते रहे। परन्तु, इसका परिणाम बिलकुल प्रतिकूल हुआ। श्रीअरविन्द गुरु की तलाश में थे। इस तलाश में श्रीअरविन्द की एक नागा संन्यासी से मुलाकात हुई। उनके चमत्कारों से श्रीअरविन्द योगशक्ति से प्रभावित तो अवश्य हुए, पर उन्होंने उसे गुरु-रूप में वरण नहीं किया। बारीन उन दिनों एक अरसे से ज्वरग्रस्त थे। उस नागा संन्यासी ने एक ग्लास पानी मँगवाकर कुछ मन्त्र पढ़ा और छुरी से उस पानी को चीर दिया। बारीन उस पानी को पीते ही एकदम चंगे हो गये। इसके अनन्तर बड़ौदा में इनकी

लेले से मुलाकात हुई। लेले ने इन्हें मन को चिन्ता में शून्य, निर्विषय करने की तदबीर बतला दी। तीन दिनों तक लेले के साथ इन्होंने साधना की और मन को सर्वथा शून्य, शान्त, निर्विषय एवं निर्विकल्प करने का ढंग इन्हें मालूम हो गया। इस निर्विकल्प भाव में ये कई महीनों तक स्थिर रहे। क्रिया का व्यापार बाहर-बाहर होता रहता और अन्दर-अन्दर से ये सर्वथा विकल्पशून्य रहते।

श्रीअरविन्द यदि भौतिक सुख-सुविधा को ही अपने जीवन का लक्ष्य मान बैठते, तो बड़ौदा मे इसकी कमी न थी। महाराज इनका अतिशय सम्मान करते थे, जनता में भी इनका प्रभूत आदर था और अपने छात्रों के तो ये हृदयसम्राट् ही थे। ये बड़ी सुगमता से राज्य के दीवान-पद को सुशोभित कर लाखों-लाख बना सकते थे। परन्तु, ये तो किसी और ही आदर्श की पूर्ति के लिए आये थे और वह अपने-आप में इतना दिव्य और उदात्त था कि उसे पूरा किये बिना ये शान्त या निश्चेष्ट कैसे बैठ सकते थे?

देश में एक नवीन जागृति आ रही थी। 'भिक्षां देहि' की वृत्ति को समाप्त कर इस विदेशी शासनसत्ता को उलट देने का भाव जोरों से बढ़ा आ रहा था। इसके लिए श्रीअरविन्द ने तीन उपाय सोचे : पहला एक गुप्त सशस्त्र रक्तक्रान्ति की तैयारी, दूसरा, अंगरेजी सलतनत के विरुद्ध खुला प्रचार और तीसरा विदेशी शासन से सर्वथा असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध। श्रीचारुचन्द्र दत्त ने अपनी 'पुराणकथा' मे एक बड़ी ही विचित्र घटना का उल्लेख किया है। दत्त महाशय उन दिनों इण्डियन सिविल सर्विस मे थे और बम्बई प्रेसिडेन्सी में थे। श्रीअरविन्द एक बार इनके यहाँ पधारे। सन्ध्या का समय था। पानी खूब झमाझम बरस रहा था। घर के लोगों ने मनोरंजन के लिए 'निशानेबाजी' की बात सोची। दियासलाई की काठी के सिरे पर गोली दागनी थी। श्रीअरविन्द इस तमाशे को बडे कुतूहल से देखते रहे। जब इनसे शामिल होने के लिए कहा गया, तो ये सहमे और सकुचाये और यह कहकर अलग हो गये कि मुझे गोली चलाना नहीं आता। परन्तु, मित्रों के आग्रह पर इन्होंने बन्दूक उठाई और इन्हें बतलाया गया कि बन्दूक कैसे चलाई जाती है और निशाना कैसे मारा जाता है। कैसे आश्चर्य की बात है कि पहले ही निशाने में श्रीअरविन्द की गोली ठीक अपने लक्ष्य को वेध गई। सभी आश्चर्यचकित थे। पहले-पहल बन्दूक चलाने में या तो चलानेवाले को बड़े जोर का धक्का लगता है या निशाना फेल कर जाता है। परन्तु, श्रीअरविन्द पहली ही बार इस प्रकार सफल रहे और इनका निशाना अचूक रहा। यह देखकर सभी दंग थे।

जिन दिनों की यह चर्चा है उन दिनों तक सैन्य-संगठन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। हवाई हमले का नाम तक न था। राइफल ही आखिरी अस्त्र था। भारतवासी निहत्थे थे अवश्य, परन्तु यदि बाहर से शस्त्रास्त्र की सहायता मिल जाती, तो

मुट्ठी-भर अंगरेजों को धूल डालना असंख्य भारतवासियों के लिए कुछ दुष्कर नहीं था। इतना ही नहीं, भारतीय सेना में भी क्रान्ति की आग भड़काई जा सकती थी। श्रीअरविन्द चाहते यह थे कि चाहे जिस प्रकार हो, हिंसा से हो या अहिंसा से, देश को पराधीनता के बन्धन से मुक्त हो जाने का पूर्ण अधिकार है। इस विषय में श्रीअरविन्द और लोकमान्य तिलक के विचार एक थे। प्रारम्भ में तो श्रीअरविन्द भारत की आन्तरिक अवस्था का पूर्ण मनोयोग के साथ अनुशीलन करते रहे और 'इन्दुप्रकाश' में कुछ लेखमालाएँ लिखने के सिवा उन्होंने और कुछ नहीं किया, परन्तु धीरे-धीरे देश की वास्तविक अन्तर्दशा का ज्ञान हो चुकने पर श्रीअरविन्द ने बड़ौदा से एक बंगाली सैनिक जतीन बनर्जी को बंगाल भेजा यह देखने और जानने के लिए कि सशस्त्र क्रान्ति के लिए बंगाल कहाँतक तैयार है। उद्देश्य यह था गुपचुप सारे बंगाल में सशस्त्र क्रान्ति का वातावरण तैयार कर दिया जाय। हर शहर, हर कसबे और हर गाँव में इसके केन्द्र और शाखाएँ स्थापित कर सामूहिक रूप से सारे बंगाल को क्रान्ति के मैदान में उतार देना था। नवयुवकों को घुड़सवारी, लाठी, तलवार आदि में परिनिष्णात करना भी इस आन्दोलन का एक मुख्य एवं व्यक्त प्रतीक था। बात की-बात में दावानल की तरह आन्दोलन फैल गया और बड़े उत्साह एवं उल्लास के साथ समूह-के-समूह युवक इसमें आने लगे। आत्माहुति की यह होड़ देवताओं के लिए भी ईर्ष्या दृष्टि का विषय थी। माँ की पावन पुकार थी और यह पुकार श्रीअरविन्द के कानों तक पहुँची, बंगाल उन्हें पुकार रहा था। इस पुकार को सुन कर स्पष्ट ही स्वेच्छया दरिद्रता का वरण करना था। दुःख, दैन्य, दारिद्र्य को गले लगाकर ही आत्माहुति के इस पावन पथ में बढ़ना था। श्रीअरविन्द ने यह पुकार सुनी, बन्दिनी माँ की यह कातर पुकार, और पुकार सुनकर वे अपने को रोक न सके; चल पड़े माँ की उपासना के लिए, वह उपासना जो हँसते-हँसते आत्मबलिदान के द्वारा होती है। बड़ौदा की नौकरी छोड़कर श्रीअरविन्द कलकत्ता आ गये—७०० रुपये मासिक की नौकरी छोड़कर सत्तर रुपये मासिक पर।

कलकत्ते में—[क्रान्तिकारी] युध्यस्व विगतज्वरः

सन् १९०६ ई० में श्रीअरविन्द ने बड़ौदे की नौकरी छोड़ी और कलकत्ता आये। महाराज बड़ौदा ने अपने आदमी उन्हें लिवा लाने के लिए भेजे, पर वे न लौटे। नाम-मात्र के वेतन पर कलकत्ता में नेशनल कॉलेज के प्रिंसिपल-पद को उन्होंने स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि जिसमें त्याग की मात्रा जितने अंश में है, वह उतने ही अंश में मनुष्य से ऊँचा है। उन दिनों देश में एक से एक महान् विभूतियाँ एवं संस्थाएँ देश के आध्यात्मिक पुनरुत्थान तथा राजनीतिक नवचेतना के लिए यत्न-

क्षीण थी। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध देश पर छा रही थी, पर इसके वेग को रोकने के लिए राममोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द और दयानन्द कटिबद्ध थे; साथ ही ब्राह्मसमाज तथा आर्यसमाज भी अपने प्रचार-कार्य के द्वारा अपने-अपने ढग से इस महाविपत्ति से देश को बचाने मे व्यस्त थे। थियासॉफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन के कारण भी यह प्रवाह रुकता दिखा, पर देश पर सबसे बडी विपत्ति जो बड़ा ही भयानक रूप धारण कर आ गई, वह थी बगभग की। लार्ड कर्जन इस बात पर तुला हुआ था कि वह बंगाल को दो टुकड़े करके ही छोडेगा। बगभग की बात से सारे देश मे प्रतिहिंसा की भावना यकायक अनायास बडे वेग से बढ गई और देश एक छोर से दूसरे छोर तक अभिनव क्रान्ति की भावना से धधक उठा। श्रीअरविन्द बहुत पहले पश्चिमी भारत की एक गुप्त संस्था के सम्पर्क मे आ चुके थे और बम्बई में इसकी कौंसिल में प्रवेश पा चुके थे। इस गुप्त कौंसिल मे उन्होंने क्रान्ति की शपथ ली और बंगाल मे इसके प्रचार का व्रत लिया। इस सम्बन्ध मे ये बंगाल के प्रमुख क्रान्तिकारी नेता पी० मित्र से मिले और इस समुदाय ने भी गुप्त क्रान्ति की शपथ ली और बंगाल के गाँव-गाँव में तलवार, भाला, लाठी आदि का शिक्षण शुरू हो गया। बंगभंग के व्यापार ने सारे बंगाल मे आग लहका दी और वह महान् आन्दोलन, जिसे हम 'स्वदेशी आन्दोलन' कहते हैं, जोरशोर से चल पडा। २९ सितम्बर, १९०५ ई० मे बंगभंग का कानून पास हुआ। एतदर्थ १६ अक्तूबर को सारे बंगाल मे उपवास, प्रार्थना और व्रत का दिन माना गया। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई, सैकड़ों युवक अपना स्कूल-कॉलेज छोड़कर 'स्वदेशी आन्दोलन' में सम्मिलित हो गये और सहस्र-सहस्र व्यक्तियों ने—पुरुषों और स्त्रियों ने 'स्वदेशी' का व्रत लिया। श्रीअरविन्द ने गुप्त षड्यन्त्र की अपेक्षा स्वदेशी आन्दोलन को विशेष रूप मे योगदान किया। बारीन के कहने पर उन्होंने 'युगान्तर' निकाला। 'युगान्तर' बड़ी शान के साथ चला। इससे प्रायः खुले विद्रोह का प्रचार होने लगा। अंगरेजी राज्य को एकदम नही मानते हुए सशस्त्र प्रतिकार की भावना 'युगान्तर' के कारण खूब पनपी। श्रीअरविन्द उसके मुख्य सम्पादकीय लिखते और उसकी नीति को निर्धारित करते। पुलिस की 'कृपादृष्टि' इस पत्र पर पड़ी और सम्पादकीय विभाग ने एक सदस्य, स्वामी विवेकानन्द के भाई ने सारा दायित्व अपने ऊपर स्वीकार कर लिया और फलतः वे गिरफ्तार हो गये। चूँकि ये लोग बृटिश शासन-सत्ता को स्वीकार नही करते थे, इसलिए मुकदमे की पैरवी भी अनावश्यक मानी गई। इससे पत्र का प्रभाव और ख्याति बढ़ी। उन दिनो के षड्यन्त्रकारी नेताओं में श्रीसखाराम गणेश देवस्कर का नाम विशेष आदर और भक्ति के साथ लिया जाता है। उन्होंने शिवाजी की जीवनी बँगला मे लिखी थी और पहले-पहल उसी ग्रन्थ

में एक आग फूंक दी। आनन्दमठ का 'वन्दे मातरम्' कण्ठ-कण्ठ में व्याप्त हो गया। स्वयं श्रीअरविन्द ने अपनी पुस्तक बंकिम-तिलक-दयानन्द में लिखा है कि 'वन्दे मातरम्' मन्त्र ने एक दिन में समस्त जनसमाज में देशभक्ति का धर्म व्यापक कर दिया है। माँ का यह व्यक्त स्वरूप है। एक बार यह भावना जाग्रत् हो जाने पर फिर उस मन्दिर में मातृमूर्ति स्थापित किये बिना और उसकी बलिवेदी पर सर्वांगत:, अशेषत: आत्मबलिदान किये बिना शान्ति कहाँ, चैन कहाँ, विश्राम कहाँ, निद्रा कहाँ। जब किसी राष्ट्र मे वह नवनवोन्मेषशालिनी दृष्टि आ जाती है, तब वह फिर विदेशी शासन के जूए के नीचे अपनी गरदन नहीं झुका सकता।

६ अगस्त, १९०६ ई० से 'वन्दे मातरम्' का प्रकाशन शुरू हुआ दैनिक रूप में और फिर २ जून, १९०७ ई० मे इसका एक साप्ताहिक संस्करण भी निकलने लगा। श्रीअरविन्द बराबर इसमें लिखते रहे। इनके मुख्य सहकर्मियों में विजय चटर्जी और श्यामसुन्दर चक्रवर्ती थे। उन्होंने प्राय: श्रीअरविन्द की लेखनशैली प्राप्त कर ली थी और हू-ब-हू श्रीअरविन्द की शैली में लिखा करते थे, यहाँतक कि पाठकों को पता भी नहीं चलता था कि यह श्रीअरविन्द का लेख है या विजय चटर्जी का या श्यामसुन्दर का। 'वन्दे मातरम्' की ख्याति बढ़ती जाती थी और इससे यहाँ के गोरे और अधगोरे अखबार जलते रहते थे।

पर 'वन्दे मातरम्' की शैली और विचार इतने सधे होते थे कि वह कानून के पंजे में नही आ सकता था। 'स्टेट्समैन' बराबर यह शिकायत करता रहा कि 'वन्दे मातरम्' राजविद्रोह का प्रचार कर रहा है। पर सरकार को अभी 'वन्दे मातरम्' पर किसी प्रकार का मामला चलाने का समय नहीं आया था। २८ जुलाई के डाक-संस्करण 'सम्पादक के नाम पत्र' स्तम्भ में एक चिट्ठी छपी थी—'भारतीयों के लिये राजनीति'। इसपर सरकार क्षुब्ध हो गई और मामला चलाना चाहा। खबर पाते ही स्वयं श्रीअरविन्द गुप्तचर विभाग में पहुँच गये वहाँ से इन्हे पोड़पोखर थाने में ले जाया गया और ये तुरन्त ही जमानत पर छोड दिये गये। बंगवासी कालेज के प्रो० गिरीश बोस और वेलिंगटन स्क्वायर के नीरोद मल्लिक इनके जमानतदार थे।

श्रीअरविन्द को काम करने की धुन थी, वे आत्मप्रकाशन से भागते थे। उन्होंने बहुत पीछे दिलीपकुमार को लिखा था—"राजनीतिक जीवन मे आत्मप्रचार और आत्मप्रकाशन से मैं बराबर दूर रहा हूं। मैं परदे के भीतर रहकर काम करना अधिक पसन्द करता हूँ, बिना जाने ही जनता को आगे बढाना चाहता हूँ। मुझे यहा अच्छा लगता है, मुझे व्यर्थ का अनावश्यक प्रकाशन सुहाता नहीं।" परन्तु, गिरफ्तारी के कारण श्रीअरविन्द का नाम देश के एक-एक व्यक्ति के मुँह पर था।

श्रीअरविन्द के इन अमृत वचनो का श्रद्धालु युवकों पर बड़ा ही अनोखा प्रभाव पड़ा। पढो लिखो, कर्म करो, अभीप्सा करो, आगे बढो और कष्ट सहन करो एकमात्र मातृभूमि के लिए, माँ की सेवा के लिए। 'वन्दे मातरम्' मन्त्र का उच्चारण करते हुए निःस्पृह सेवा मे डूब जाओ; यदि तुम्हारा हृदय पवित्र है, यदि उसमे स्वार्थ की वासना नही है, तुम्हारी विजय निश्चित है; क्योंकि तुम्हारी शक्ति अपरिमेय और अजेय है। माँ तेरी जय हो, जय हो! वन्दे मातरम्। इस अमृतवाणी ने सहस्र-सहस्र नवयुवको मे देशभक्ति की विद्युत्‌धारा बहा दी। लोग भक्ति के उन्माद मे अपने सर्वस्व का बलिदान करने के लिए, अपने प्राण-विसर्जन के लिए पागल-से हो गये।

'वन्दे मातरम्' के मुकदमे मे सरकार यह पता लगाना चाहती थी कि पत्र का सम्पादक कौन है। उसमे केवल एक बार ही श्रीअरविन्द का नाम सम्पादक के स्थान पर छपा था। विपिनचन्द्र पाल ऐसे अनीतिपूर्ण मामले मे भाग लेने से इनकार कर गये। इन्हे छः महीने की सजा हो गई और ये खुशी-खुशी जेल चले गये। फिर भी, सरकार इस पत्रके सम्पादक का पता न चल सका। अन्त में, प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट मि० किंग्सफोर्ड ने अपना फैसला सुना दिया और श्रीअरविन्द अभियोग प्रमाणित न होने के कारण मुक्त कर दिये गये। इस घटना से घर-घर मे, व्यक्ति-व्यक्ति मे यह बात फैल गई कि 'वन्दे मातरम्' का सारा सूत्र-संचालन श्रीअरविन्द के द्वारा ही होता रहा था। पर, क्या तमाशा था कि सरकार को एक-न-एक व्यक्ति 'शिकार' के लिए चाहिए ही था। इसलिए, प्रेस का एक साधारण प्रिंटर, जो अँगरेजी एकदम नही जानता था और न यही जानता था कि यह सब क्या तमाशा हो रहा है, गिरफ्तार करके कुछ महीनो के लिए जेल में डाल दिया गया। नौकरशाही! तेरी माया अपार है!

विपिन पाल के जेल चले जाने के कारण 'वन्दे मातरम्' आर्थिक संकटों मे घिर गया और यह निश्चित किया गया कि यदि इसे मरना ही है, तो शान से मरे और वीर की गति प्राप्त करे। इसलिए विजय चटर्जी ने एक ऐसा लेख लिखा, जिसे सरकार बरदाश्त नही कर सकती थी। 'स्टेट्समैन' ने जोर लगाया कि 'वन्दे मातरम्' मे यहाँ से वहाँ तक राजद्रोह की बातें भरी रहती हैं। बस फिर क्या था। सरकार की 'कृपादृष्टि' का भाजन बनकर 'वन्दे मातरम्' ने श्रीअरविन्द की अनुपस्थिति मे, समाधि ले ली। यह सितम्बर, १९०७ ई० की बात है।

सन् १९०७ई० में देश में दो विचारधाराएँ बड़ी प्रबल और प्रखर गति से चल रही थी। सर फिरोज शाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले और कृष्णस्वामी अय्यर नरमदल के नेता थे और गरमदल के नेता थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और

श्रीअरविन्द। सन् १९०६ ई० में कलकत्ता में जो कांगरेस हुई थी, उसके प्रस्तावों के सम्बन्ध में दोनों दलों मे दो अर्थ और दो अभिप्राय लगाये जा रहे थे। 'स्वदेशी आन्दोलन' को लेकर जो कई अन्य विचारधाराएँ चल पड़ी थी, उनके सम्बन्ध में भी दोनों दलों में मतैक्य नहीं था। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, अंगरेजी शिक्षालयों का बहिष्कार, कचहरियों का बहिष्कार, स्वयंसेवकों का संगठन और पंचायत स्थापना—यही पंचसूत्री योजना थी, जिसे कलकत्ता मे स्वीकृत किया गया था। इन योजनाओं को अन्तिम रूप सूरत कांगरेस के अधिवेशन में मिलनेवाला था, दिसम्बर, १९०७ ई० में।

हाँ, तो दिसम्बर, १९०७ ई० में सूरत में कांगरेस का अधिवेशन होनेवाला था। परन्तु इसके पहले बंगाल प्रान्तीय कांगरेस का जो अधिवेशन मिदनापुर में हुआ, उसमें गरमदल (नेशनलिस्ट) के सारे प्रस्ताव पास हो गये और फिर गरमदलवालों ने अपनी एक अलग बैठक श्रीअरविन्द के नेतृत्व में की और सारे बंगाल का सूत्र-संचालन उन्होंने अपने हाथों में ले लिया। सूरत कांगरेस को इन लोगों ने एक चेतावनी भी दी कि यदि राष्ट्र के सूत्रधार सही रास्ते पर राष्ट्र का संचालन नहीं करेंगे, तो परिणाम घातक होगा। लोकमान्य तिलक इस परिस्थिति से परम प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीअरविन्द को लिखा कि अधिक-से-अधिक नेशनलिस्ट विचारवाले लोगों को लेकर वे सूरत कांगरेस आवें ताकि कांगरेस पर नेशनलिस्ट, विचारधारा का प्रभुत्व स्थापित हो जाय।

श्रीअरविन्द प्रकृत्या शान्त, एकान्तप्रिय और जनसंसद् से, भीड़भाड़ और शोर-गुल से अलग रहनेवाले व्यक्ति थे। परन्तु अब वे करते भी तो क्या? आँधी और तूफान, युद्ध और कोलाहल से भागनेवाले व्यक्ति पर ही यदि ये सब एक साथ आ घिरें, तो उन्हें धैर्य और शान्ति के साथ सह लेने के सिवा और क्या उपाय था? इनके कई मित्र जेलों मे थे, कइयों का निर्वासन हो गया था, 'वन्दे मातरम्' केस के कारण इन्हें अपूर्व लोकप्रियता मिल गई थी। इन सारी बातों के कारण इन्हें आगे आना ही पड़ा और ये अनायास नेशनलिस्ट पार्टी के अग्रतम नेता हो गये।

सूरत-कांगरेस के लिए प्रस्थान करने के पहले श्रीअरविन्द ने अपनी पत्नी को जो पत्र लिखे, वे भी इतिहास की दृष्टि से चिरस्मरणीय हैं। श्रीअरविन्द लिखते हैं, "यहाँ मुझे एक मुहूर्त्त भी समय नहीं; लिखने का भार मेरे ऊपर है, कांगरेस-सम्बन्धी कार्य का भार मेरे ऊपर है। इतना अधिक काम है कि पूरा नहीं कर पाता। इसके अलावा मेरा अपना भी काम है, उसे भी नहीं छोड़ सकता।

मेरी एक बात सुनोगी? मेरे लिए बड़ी दुश्चिन्ता का समय आया है, चारों ओर से इतनी खींचतान चल रही है कि पागल होने की नौबत आ गई है। इस

समय अगर तुम अस्थिर होओगी तो उससे मेरी और भी चिंता और दुविधा बढ़ जायगी। अगर तुम उत्साह और सान्त्वना से मेरी चिट्ठी लिखोगी, तो मुझे विशेष शक्ति प्राप्त होगी, प्रसन्न मन से समस्त विपत्ति और भय का अतिक्रमण कर सकूँगा। मैं जानता हूँ कि देवघर में अकेला रहने से तुम्हें कष्ट होता है, परन्तु मन को दृढ़ करने और विश्वास के ऊपर निर्भर करने से दुःख मन के ऊपर इतना आधिपत्य नही जमा सकेगा। जब तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ है, तुम्हारे भाग्य मे यह दुःख अनिवार्य है, बीच-बीच मे विच्छेद होगा ही, कारण साधारण मनुष्य की तरह परिवार और स्वजनो के सुख को ही मैं जीवन का मुख्य उद्देश्य नही बना सकता। ऐसी अवस्था मे मेरा धर्म ही तुम्हारा धर्म है, मेरे निर्दिष्ट कार्य की सफलता में अपना सुख मानने के सिवा तुम्हारे लिए और कोई उपाय नही।"

इसी पत्र से यह भी पता लगता है कि श्रीअरविन्द सूरत के लिए दिसम्बर के मध्य मे प्रस्थान कर ७ जनवरी (१९०८ ई०) को कलकत्ता पुनः वापस आयेंगे।

सूरत-कांगरेस और उसके बाद–[जननेता]–तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च

सूरत का अधिवेशन कांगरेस के इतिहास में, कांगरेस के ही इतिहास मे क्यों, हमारे देश के इतिहास में एक सस्मरणीय घटना है। नेशनलिस्ट दल के लोग लाला लाजपतराय को अध्यक्ष बनाना चाहते थे और माडरेटों की इच्छा थी रासबिहारी घोष को अध्यक्ष बनाने की। तुमुल युद्ध छिड़ गया; जूते, कुरसियाँ चल गईं। पुलिस ने 'भीड़' को तितर-बितर कर दिया। श्रीअरविन्द इसमें सर्वथा शान्त और गम्भीर बने रहे। (विशेष विवरण के लिए देखिए: डॉ० पट्टाभि सीताराम-य्या लिखित *'कांगरेस का इतिहास'* भा० १, अ० ४, पृ० ६५-६७)। डॉ० पट्टाभि श्रीअरविन्द के बारे में लिखते हैं—*'श्रीअरविन्द के प्रकाश की प्रभा एक बाढ की तरह हिमालय से कन्याकुमारी तक फैल गई।'* नरम और गरमदल ने परस्पर अपनी अपनी शक्ति को पूरा-पूरा आजमा लिया। नेशनलिस्ट दल ने अपनी कांगरेस अलग की, जिसके अध्यक्ष हुए श्रीअरविन्द। उस सभा में तिलक, लालाजी, खापर्डे आदि विद्यमान थे। इस प्रकार, सूरत-कांगरेस-अधिवेशन अस्तव्यस्त अवस्था में छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो गया।

'लाल', 'पाल' और 'बाल'—लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल और बाल गंगाधर तिलक का यह युग था। राजनीति में इन्ही की तूती बोलती थी। श्रीअरविन्द की देशभक्ति, जिसे मातृभक्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा, अत्यन्त प्रज्वलित थी। इस देशभक्ति का स्वप्न उन्होंने बहुत पहले देखा था और वह स्वप्न अब चरितार्थ होनेवाला था—"अतीत मे गौरव-वृद्धि, वर्त्तमान में कष्टवरण,

भविष्य के लिए अमोघ संकल्प—ये हैं देशभक्ति-रूपी वृक्ष की मूल शाखाएँ। आत्मत्याग, आत्मविसर्जन, महती सेवा, देश के लिये महान्-से-महान् सहिष्णुता—ये हैं उसके फल। जो रस इस वृक्ष को जीवित रखता है, वह है भगवान् का मातृमूर्त्ति में, मातृभूमि में दर्शन, मातृदर्शन और उस 'माँ' का निरन्तर चिन्तन, ध्यान, पूजन और सेवन।"[1] श्रीअरविन्द राजनीतिक पचड़े में न पड़े। उनके सामने थी मातृमूर्त्ति, जिसकी अर्चना के लिए वे व्यग्र थे, प्राणों के बलिदान द्वारा भी यदि माँ प्रसन्न होती, तो वे तैयार थे, सहर्ष प्राणों को हथेली पर लेकर आगे बढ़े। सूरत से लौटने पर श्रीअरविन्द ने बम्बई, मध्यभारत और बड़ौदा में भाषण दिये। सहस्र-सहस्र आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष इनके भाषण सुनने के लिए एकत्रित होते और ध्यानस्थ होकर इनकी बातें सुनते। श्रीअरविन्द कोई मँजे हुए राजनीतिक वक्ता हों, ऐसी बात नहीं। वे बहुत धीरे-धीरे ठहर-ठहरकर बोलते थे कभी जोर से चिल्लाते नहीं थे, जैसी प्रायः नेताओं की आदत होती है। उनका नियम यह था कि भाषण देने के पूर्व चित्त को सर्वथा शान्त और 'स्वस्थ' कर लेते थे और सोचने की क्रिया को एकदम बन्द कर देते थे। फिर, भगवत्कृपा से जो कुछ मुँह से निकल जाता, वही उनका भाषण होता था। वे वस्तुतः भगवान् के हाथ का शुद्ध यन्त्र बनकर बोलते थे। बड़ौदा में श्रीअरविन्द जब भाषण करने के लिए जुलूस में आये, तब श्रद्धा और भक्तिवश लोगों ने इनके रथ में लगे हुए घोड़े खोल दिये और स्वयं रथ खींचा। वहीं बड़ौदा में बारीन का तार पाकर विष्णु भास्कर लेले आये और उन्होंने श्रीअरविन्द को यह मन्त्रणा दी कि मन को एकदम खाली करके किसी भी विचार को आने ही नहीं देना चाहिए। मन जैसे एक सफेद कागज का टुकड़ा हो जाय, तब उसपर भगवान् के लिखे अक्षर साफ-साफ झलकने लगते हैं। यदि इस प्रकार मन को सर्वथा रिक्त कर दिया जाय और विचारों के घात-प्रतिघात को निःशेष कर दिया जाय तो, मन स्वतः भगवान् के हाथ का एक परम

---

१. "The pride in the past, the pain of our present, the passion for the future are its (partiotism's) trunk and branches. Self-sacrifice and self-forgetfulness, great service, high endurance for the country are its fruits. And the sap that keeps it alive is the realization of the Motherhood of God in the country, the vision of the Mother, the perpetual contemplation, adoration and service of the Mother." (Selections from 'Bande Mataram'. Benares, 1922).

शुद्ध यन्त्र बन जाता है और ही मन का सूत्र-संचालन स्वयं भगवान् ही अपने हाथों मे ले लेते हैं। ऐसी अवस्था मे मनुष्य का प्रत्येक कार्य भगवान् के संकेत पर ही चलता है।

श्रीअरविन्द को अब जनसंसद्, लोक-कोलाहल में ही अपना जीवन बिताना था पर उन्हें एक ऐसा सूत्र हाथ लग गया था, जिससे वे सब अवस्थाओं में, सब समय स्थिर, शान्त, 'स्वस्थ और अन्तर्मुखी बने रह सकते थे। वे भगवत्कार्य मे सलग्न थे और अपनी निजी इच्छाओ को भगवदिच्छा मे विसर्जित कर चुके थे। उन्होंने इस समय अपनी पत्नी को एक पत्र लिखा था—

"८ जनवरी को आने की बात थी, पर नही आ सका, मेरी इच्छा से ऐसा नही हुआ है। जहाँ भगवान् ले गये, वही जाना पड़ा। इस बार मैं अपने काम से नही गया था, उन्ही के काम में था। इस बार मेरे मन की अवस्था दूसरे प्रकार की हो गई है, उस बात को इस पत्र मे प्रकट नही करूँगा। तुम यहाँ आओ, उस समय जो कुछ कहना है, वह कहूँगा, केवल यही बात अभी कहूँगा कि अब इसके बाद मैं अपनी इच्छा के अधीन नही रहूँगा, जहाँ भगवान् मुझे ले जायेंगे, वही मुझे कठपुतली की तरह जाना पड़ेगा, जो करायेंगे, वही कठपुतली की तरह करना होगा।. . अब मुझे स्वाधीनता नहीं है, इसके बाद से तुम्हें यह समझना होगा कि मेरे सभी कार्य मेरी इच्छा पर निर्भर न कर भगवान् के आदेश से ही हुए हैं। तुम जब आओगी तब मेरा तात्पर्य हृदयंगम कर सकोगी। आशा करता हूँ कि भगवान् ने अपनी अपार करुणा से मुझे जो आलोक दिखाया है, उसे तुम्हें भी दिखायेंगे, परन्तु वह उन्हीं की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि तुम मेरी सहधर्मिणी होना चाहती हो, तो तुम प्राणपण से चेष्टा करो, जिसमे वह तुम्हारी एकान्त इच्छावश तुमको भी करुणा का पथ दिखायें" (श्रीअरविन्द के पत्र, पृ०११)। श्रीअरविन्द के द्वारा अपनी धर्मप्राणा पत्नी श्रीमती मृणालिनी देवी को लिखे, केवल तीन ही पत्र मिलते हैं— पहले मे उन्होंने अपने तीन प्रकार के पागलपन की चर्चा की है, दूसरे में एक गुप्त संदेह, परन्तु दृढ़ उत्कट लगन की चर्चा है और तीसरे में है भगवत्संकल्प की परिपूर्त्ति के लिए सर्वात्मविसर्जन, निःशेष आत्मदान की निष्ठा। श्रीअरविन्द के और भी पत्र अपनी प्राणप्रिया को लिखे हुए अवश्य होंगे, पर वे कहाँ मिलेंगे?

श्रीअरविन्द, मि० अरविन्द घोष से अब श्रीअरविन्द हो गये, भगवान् के हाथ का एक मृमधुर पुतला, माँ का पुजारी। उनकी एक कविता मे ये पंक्तियाँ सर्वथा इनकी वर्त्तमान अवस्था को व्यक्त करती हैं—

अखण्ड श्रद्धा। यह विश्वास और अशेष आत्मदान की उर्वर भूमि मे पनपती है। जन-जन के हृदय मे निवास करनेवाले भगवान् वासुदेव का साक्षात्कार कर उसी वासुदेव की सेवा में अपने-आप तथा अपने सर्वस्व का होम कर देना—यह थी इसकी आधारशिला। श्रद्धा, विश्वास और समर्पण, यही है साधना का त्रिविध आधार।

बड़ौदा, बम्बई, पूना, नासिक, अमरावती, नागपुर—श्रीअरविन्द जहाँ भी गये, अपार जनसमूह ने इनके चरणो मे श्रद्धा के पुष्प चढाये। इनके भाषणो का अनुवाद डॉ० मुजे किया करते थे। इनका दिव्य सन्त शरीर अपने विमल व्यक्तित्व की प्रभा मे सभी को प्रभावित कर देता और देखने तथा सुननेवाले मन्त्रमुग्ध हो इन्हें देखते और सुनते रहते। 'बन्दे मातरम्' ने इनके नाम और यश को घर-घर पहुँचा दिया था, आज लोग अपने आराध्य देव के दर्शनों से कृतार्थ हो रहे थे, धन्य धन्य हो रहे थे। इनके दर्शनों का सौभाग्य पानेवाले सचमुच कितने भाग्यशाली थे!

सूरत-अधिवेशन की सबसे बड़ी महत्त्वशाली, प्रभावपूर्ण घटना है तिलक और श्रीअरविन्द का परस्पर मिलन और विचारों का आदान-प्रदान। अधिवेशन के बीच से लो० तिलक श्रीअरविन्द को पंडाल से बाहर ले गये और ये दोनों घण्टों बातें करते रहे। उसी बातचीत में इन दोनों ने अपना भावी कार्यक्रम स्थिर किया। लो० तिलक के विषय में श्रीअरविन्द लिखते हैं—'तिलक एक पक्के मराठा थे—चरित्र में, गुण में, भाव में। उनमें उन सम्पूर्ण गुणों का बड़ा ही भव्य समन्वय था, जिनके द्वारा कोई महान् व्यक्ति तुरत अपने समय और देश का प्रतिनिधि हो जाता है—वे गुण थे महान् चरित्र का पवित्र गठन, सभी गुणों में प्रतिभा की प्रभा, आत्मा की अजेय अमोघ शक्ति। श्रीअरविन्द जब कलकत्ता लौटकर आये, तब उन्होंने स्वदेशी, राष्ट्रवाद, कष्टवरण, निःस्वार्थ सेवा, प्राचीन हिन्दू-धर्म का नवजागरण आदि विषयों पर प्रवचन किये जिनका उस समय के जनसमाज पर बड़ा ही भव्य प्रभाव पड़ा।

अलीपुर-जेल में—[बन्दी] : वासुदेवः सर्वमिति

सूरत-अधिवेशन के पहले मिदनापुर मे जो बंगप्रान्तीय नेशनलिस्ट कान्फ्रेंस श्रीअरविन्द की अध्यक्षता मे हुई थी, तब से सरकार की विशेष 'कृपादृष्टि' श्रीअरविन्द पर होने लगी थी। वह ताक मे थी कि कोई दाँव मिले और फिर बस इन्हें 'अन्दर' डाल दिया जाय। सूरत में भी नेशनलिस्ट कान्फ्रेंस का अधिवेशन पृथक् रूप में श्रीअरविन्द के सभापतित्व मे हुआ हो। अधिवेशन के अनन्तर श्रीअरविन्द ने बम्बई, बड़ौदा, पूना, नासिक, रायपुर, नागपुर आदि स्थानो में जो भाषण दिये,

उनकी खबर भी पुलिस को बराबर लगती ही रही। इतना ही नहीं, कलकत्ता लौटकर श्रीअरविन्द ने जो उग्र विचार-भरे भाषण दिये, उनपर भी पुलिस सतर्क रही, परन्तु इनके भाषणों का आधार इतना ऊँचा अध्यात्मवाद होता था कि पुलिस चाहकर भी इन्हें फँसा न सकती थी। जनवरी, १९०८ ई० में श्रीअरविन्द ने 'वन्दे मातरम्' के सम्पादकीय स्तम्भ में लगातार लेखमाला लिखी थी—शीर्षक था 'मृत्यु या जीवन'—'Death or Life'। सूरत में जो काण्ड हुआ, उसपर भी व्यंग-भरे लेख 'वन्दे मातरम्' में २६ जनवरी, १६ और २३ फरवरी के अंकों में छपे थे, जिनके लेखक थे श्यामसुन्दर चक्रवर्ती। इन सबकी खबर पुलिस बड़ी सावधानी से चौकसी होकर रख रही थी।

सूरत से लौटने पर श्रीअरविन्द ने प्राणपण से स्वदेशी आन्दोलन को और भी उग्र रूप दे दिया। सारा बंगाल प्रतिहिंसा की भावना से धधक उठा। बच्चे-बच्चे के हृदय में आत्मोत्सर्ग की भावना लहरें ले रही थी और हिलोरें मार रही थी। वन्दे मातरम्' मन्त्र में इतनी अमोघ शक्ति थी कि 'वन्दे मातरम्' कहकर शूली पर लटक जाना एक परम सौभाग्य की बात थी। त्याग, बलिदान में एक दूसरे से होड़ ले रहे थे। विचित्र दृश्य था, देवताओं को देखने लायक। श्रीअरविन्द का विचार था कि देश को पराधीनता से मुक्त करने के लिए किसी भी उपाय का आश्रय लिया जा सकता है, उसमें हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं आना चाहिए। यदि और कोई उपाय न हो, तो अपनी मुक्ति के लिए राष्ट्र को हिंसा का आश्रय लेने में कोई हानि नहीं है, न आपत्ति ही। तिलक और अरविन्द दोनों का यही विचार था। ये लोग 'अहिंसा' के उपासक नहीं थे। शान्ति बहुत बड़ी वस्तु है, परन्तु इसका आधार होना चाहिए आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक। मानव-प्रकृति को सुधारे बिना शान्ति-शान्ति चिल्लाना व्यर्थ है। भावना या प्रचार के आधार पर शान्ति की स्थापना व्यर्थ है और जिस राष्ट्र में असमय ही अहिंसा और शान्ति का प्रचार किया जाता है, वह अवश्य ही हतप्रभ और निर्वीर्य हो जाता है।

श्रीअरविन्द ने देश की काया को पलट देने के लिए यह आवश्यक समझा कि गाँव-गाँव में 'समितियाँ' स्थापित की जायँ; क्योंकि भारत में स्वराज्य का अर्थ है गाँवों का स्वराज्य। उन्होंने सर्वथा स्वाश्रयी गाँवों के पुनर्निर्माण का काम अपने हाथों में लिया। इस विषय पर उनके एक भाषण का महत्त्वपूर्ण अंग इस प्रकार है—

"यदि हमें राष्ट्र के रूप में फिर से उठना है, तो हमें अपनी शक्ति के मुख्य स्रोत, प्राचीन भारतीय जीवन की आधारशिला और हमारी जीवनशक्ति के मूलाधार गाँवों को सब प्रकार से स्वाश्रयी, स्वावलम्बी बनाना होगा। यदि हमें 'स्वराज्य'

का आधार दृढ़ करना है, तो हमें अपने गाँवों का आधार लेना होगा। परन्तु एक बात की सावधानी रहे, जिससे अतीत मे राष्ट्र के विकास मे बड़ी बाधा पहुँची है और वह यह है कि गाँव हमारे राष्ट्रीय जीवन से कटे हुए, पृथक् ही न रह जायँ, वे स्वाश्रयी हों, परन्तु आसपास की शक्तिधारा से असम्पृक्त न हों। वे एक ही महान् उद्देश्य के साधक रूप में एक सूत्र मे बँधे रहें।"

उन्होंने बार-बार लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि विदेशी शासन की मोह-माया में हमारी आत्मा मूच्छित हो गई है। बन्धन ही हमे प्रिय लगने लगे थे। परन्तु, *लार्ड कर्जन के बगभंग के सकल्प ने हमारा स्वप्नभंग कर दिया है* और हमारी मोहमूर्च्छा समाप्त हो गई है। परतन्त्रता की बेड़ियाँ पटापट टूट रही हैं और अब हम अपने अन्दर 'स्वराज्य' की स्थापना कर रहे हैं। स्वराज्य-स्थापना *का आधार है 'एकता', यह एकता देश के एक-एक व्यक्ति के हृदय मे* राष्ट्र-भावना को लेकर स्थायी भाव से बनी रहे, इसका भारी प्रयत्न श्रीअरविन्द ने किया और इसकी व्याख्या भी वे किस उच्च आध्यात्मिक ढंग से करते हैं:

"एकता होती है हृदय की और उसका उद्भव होता है प्रेम मे। विदेशी शासन ने हमारे हृदयों को प्रेमशून्य कर दिया है अपनी विभाजन नीति से; और आज भी हम इस शासनसत्ता की ओर ही एकटक देख रहे हैं इसे अपने जीवन का आधार और अवलम्ब मानकर। इस प्रकार, हम अपनी माँ और उसके प्यारे बच्चों से पृथक् होते गये हैं। परस्पर प्रेम के इस स्रोत के सूख जाने से ही हम पतन के गर्त्त मे गिर रहे हैं और इसलिए इस प्रेम के स्रोत को फिर से सींचना होगा।"

सूरत से कलकत्ता लौटने पर श्रीअरविन्द राजनीति मे खुले रूप में भाग लेने लगे और स्वदेशी आन्दोलन के कर्णधार बन गये। इसी समय बँगला के एक दैनिक पत्र 'नवशक्ति' के सम्पादन का भार भी वे स्वीकार कर चुके थे। वे स्काँट्स लेन वाले अपने किराये के मकान से, जहाँ वे अपनी स्त्री और बहन के साथ रह रहे थे, हटकर 'नवशक्ति', कार्यालय के कमरों मे आ गये, परन्तु सम्पादन-कार्य के शुभारम्भ के पूर्व ही एक दिन—५ मई, १९०८ ई०, को बहुत सवेरे, अभी वे सोये ही हुए थे कि पुलिस रिवाल्वर के साथ ऊपर चढ़ आई और उन्हें *गिरफ्तार कर लिया।* पहले वे थाने ले जाये गये और वहां से अलीपुर-जेल। अलीपुर-जेल में उन्हें एक वर्ष विचाराधीन कैदी के रूप मे रहना पड़ा।

इस गिरफ्तारी के पीछे एक रहस्यपूर्ण घटना है। मुजफ्फरपुर के *जिला जज* मि० किंग्सफोर्ड ने 'सन्ध्या' के सम्पादक देशभक्त ब्रह्मबान्धव उपाध्याय को कैम्पबेल अस्पताल में सड़ाकर मार डाला था, उसका बदला लेने के लिए कुछ उग्रपंथी नव-

युवकों ने किंग्सफोर्ड को समाप्त कर देने का इरादा कर लिया। ३० अप्रैल, १९०८ई०, को मुजफ्फरपुर में दो स्त्रियों—श्रीमती और कुमारी कैनाडी पर दो बम गिरे। ये बम स्थानीय जिला जज किंग्सफोर्ड को मारने के लिए बनाये गये थे। इस अपराध के लिए १८वर्षीय युवक खुदीराम बोस को फांसी की सजा मिली। उसकी तसवीरें सारे देश में घर-घर फैल गईं। स्वामी विवेकानन्द के भाई युवक भूपेन्द्रनाथ दत्त के सम्पादकत्व में निकलनेवाले 'युगान्तर' के कॉलमों में खुल्लमखुल्ला प्रचार किया जाने लगा। जब उस युवक को लम्बी सजा मिली, तब उसकी बूढ़ी माता ने अपने पुत्र की इस देशसेवा पर हर्ष प्रकट किया और बंगाल की ५०० स्त्रियां उसे बधाई देने उसके घर गईं। इसी विश्वास के कारण आन्दोलन इतना फला-फूला। राजद्रोह के दण्ड का भय जनता के दिल से उठ गया। लोग राजद्रोह का खुला प्रचार करने लगे। इससे देश-भर में एक भारी सनसनी मच गई। सरकार की हालत पागल कुत्ते की हो गई। जिसपर भी जरा सा भी सन्देह होता, वह गिरफ्तार कर लिया जाता। कलकत्ता के मानिकतल्ला मुहल्ले में बारीन्द्रकुमार घोष के तत्त्वावधान में बम का एक छोटा-सा कारखाना गुप्त रूप से काम करते और बम-बारूद बनाते पकड़ा गया और बारीन अपने साथियों सहित तुरन्त पकड़ लिये गये। और, चूंकि श्रीअरविन्द बारीन के बड़े भाई थे, इसलिए सहज ही सरकार की कृपादृष्टि इनपर भी पड़ी।

श्रीअरविन्द अभी सोये ही थे कि पुलिस ने इनको हथकड़ी डाल दी। इसके बाद घंटों इनके घर की तलाशी होती रही। गिरफ्तारी की खबर से पहले कलकत्ता में फिर सारे देश में एक सनसनी फैल गई। मुजफ्फरपुर-हत्याकाण्ड को लेकर श्रीअरविन्द, बारीन्द्रकुमार घोष और शेष चौंतीस व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गये। नलिनीकान्त गुप्त, जो पाण्डिचेरी-आश्रम के सेक्रेटरी हैं, इसी सम्बंध में श्रीअरविन्द के साथ गिरफ्तार कर लिये गये। इन्हें पहले पुलिस-कमिश्नर के सामने पेश किया गया, पर बाद में अलीपुर-जेल में डाल दिया गया।

श्रीअरविन्द को आरम्भ में एक छोटी-सी एकान्त कालकोठरी (सेल) में रखा गया, पर बाद में जेल के अन्दर एक बड़े कमरे में इस मामले के दूसरे कैदियों के साथ इन्हें रखा गया। इस मामले में जो मुखबिर था, उसे जेल के अन्दर ही मार डालने के अभियोग में फिर ये सब-के-सब बन्दी अलग-अलग सेलों में रखे गये और बड़ी निगरानी रखी जाने लगी। वे या तो कचहरी में या व्यायाम के लिए आंगन में मिल पाते थे परन्तु परस्पर बातचीत करने की सख्त मनाही थी। श्रीअरविन्द पहले-पहल इनसे बन्दियों से परिचित हुए। यहां श्रीअरविन्द सर्वथा एकान्त में गीता और उपनिषदों के अनुशीलन, ध्यान, धारणा और योगाभ्यास में सारा समय व्यतीत करते थे।

कमरे में गपशप चलती रहती, हँसी के ठहाके लगा करते, परन्तु श्रीअरविन्द अपने ध्यान मे मग्न रहते।

कचहरी मे जब मुकदमे की पेशी होती, तब ये सब-के-सब बंदी एक हाजत में डाल दिये जाते, परन्तु यहाँ भी श्रीअरविन्द अपने ध्यान और समाधि में लीन रहते और कचहरी मे कहाँ क्या हो रहा है, इसका इन्हें रचमात्र भी ध्यान न रहता। सी० आर० दास (चित्तरंजन दास) अपनी चलती वकालत को किनारे रखकर प्राणपण से इस मुकदमे की पैरवी मे लग गये। श्रीअरविन्द मुकदमे का सारा भार देशबंधु पर छोडकर स्वयं सर्वथा निश्चित एव निर्द्वन्द्व हो गये; क्योंकि ये जानते थे, अंत: की किसी शक्ति ने इन्हें बता दिया था कि इस मामले मे इनका कुछ होने जाने का नही। अपने उत्तरपाड़ा-अभिभाषण में श्रीअरविन्द ने कहा है—

"मैं गिरफ्तार करके जब लालबाजार हाजत मे ले जाया गया,तब पहले तो क्षण-भर के लिए मेरा विश्वास हिल उठा। भगवान् की क्या इच्छा है, मैं समझ न सका। इसलिए थोडी देर के लिए मैं रुका और अपने अन्तस् मे भगवान् को पुकारा—'प्रभो, यह क्या ? मैं समझता हूँ, देश के प्रति मेरे जीवन का एक महान् उद्देश्य है और जब-तक वह उद्देश्य पूरा नही हो पाता, आपकी छाया मुझपर बनी रहनी चाहिए। फिर मैं यहाँ क्यों, और वह भी एक ऐसे गम्भीर अभियोग मे ?' एक दिन बीता, दूसरा और तीसरा भी। अन्दर से आवाज आई, 'ठहरो और देखो।' मेरा चित्त शान्त और स्वस्थ हो गया।

'मैं लालबाजार से अलीपुर-जेल ले जाया गया और मुझे एकान्त कालकोठरी मे महीने-भर रखा गया, सबसे अलग। वहाँ प्रभु की वाणी सुनने के लिए मैं व्याकुल रहता कि मेरे लिए उसका क्या आदेश है, मुझे क्या करना चाहिए? इस एकान्त-वास मे योग का प्रथम पाठ मैंने पढ़ा। मुझे स्मरण हो आया कि गिरफ्तारी के एक महीना पहले एक आदेश मुझे मिला था कि सारे प्रपंचों और पचड़ों से अलग होकर एकान्त में जाओ, जिससे भगवान् की और निकट सन्निधि और 'संयोग' प्राप्त हो सके।"

श्रीअरविन्द ने जेल-जीवन में सबसे पहले गीता का अभ्यास शुरू किया और गीता उनके हृदय मे प्रवेश कर गई।

गीता भगवान् का हृदय है—गीता मे हृदयं पार्थ। भगवान् ने अपना हृदय खोलकर श्रीअरविन्द के हृदय में ढाल दिया। गीता अपना हृदय खोलकर श्रीअरविन्द के हृदय मे प्रकट हो गई। उन्होंने गीता को पा लिया, भगवान् के हृदय को पा लिया। जीवन का सारा दृष्टिकोण ही पल्ट गया। इसी बदले हुए दृष्टिकोण का

प्रतिफल था वह उत्तरपाड़ा-अभिभाषण, जिसे श्रीअरविन्द ने मुक्त होने के बाद पहले-पहल जनसाधारण के बीच दिया था—

'मैंने अपने को मनुष्यों से अलग करनेवाले जेल की ओर दृष्टि डाली और पाया कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारों के अन्दर बन्द नहीं हूं; अब तो मुझे घेरे हुए थे वासुदेव। मेरी कालकोठरी के सामने जो पेड़ था, उसकी शाखाओं के नीचे मैं टहल रहा था, पर वहाँ अब पेड़ नहीं था, मैंने देखा कि वहाँ अब वासुदेव श्रीकृष्ण खड़े हैं और मेरे ऊपर अपनी छत्रच्छाया किये हुए हैं। मैंने अपनी कालकोठरी के सींखचों की ओर देखा, उन झरोखों की ओर देखा, जो दरवाजे का काम कर रहे थे और वहाँ भी वासुदेव को पाया। नारायण ही सन्तरी बनकर पहरा दे रहे थे। अब मैं उन मोटे कम्बलों पर लेट गया, जो मुझे पलंग की जगह मिले थे और यह अनुभव किया कि श्रीकृष्ण, मेरे सखा, मेरे प्रेमास्पद मुझे अपनी बाहुओं में लिये हुए हैं। मुझे जो गम्भीरतर दृष्टि उन्होंने दी है, उसका यह पहला प्रयोग था। मैंने जेल के कैदियों, वहाँ के चोरों, हत्यारों और बदमाशों की ओर देखा और ज्यों-ज्यों मैं उन्हें देखता गया, मुझे वे लोग वासुदेव दिखाई दिये, उन मलिन आत्माओं और अपव्यवहृत शरीरों में नारायण मुझे मिले।"

पूरे एक साल तक श्रीअरविन्द विचाराधीन बन्दी के रूप में अलीपुर-जेल में रहे। और, संयोगवश जो बीचक्राफ्ट, जब कि श्रीअरविन्द आइ० सी० एस्० की परीक्षा में प्रथम थे, द्वितीय रहा था, उसी के यहाँ मामला चलता रहा। २०६ गवाह गुजरे और चार हजार प्रमाण के कागजात पेश किये गये। चित्तरंजन अपना सारा कामकाज छोड़कर इस मुकदमे की पैरवी में लग गये। श्रीअरविन्द, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मामले का सारा भार देशबन्धु पर छोड़कर निश्चिन्त हो गये। उन्होंने न कोई बयान दिया और न जिरह में ही भाग लिया। उन्होंने अलबत्ता यह अवश्य स्वीकार किया कि यदि जनता में स्वतन्त्रता का उपदेश राजविद्रोह है, तो मैं राजविद्रोह का अपराधी हूं, अन्यथा इस षड्यन्त्र से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्तरंजन ने पैरवी के अन्त में जो स्पीच कोर्ट में दी थी, वह आठ दिन तक चलती रही। सचमुच, इस मामले की सारी काररवाई इतनी आकर्षक और रोचक है कि वह स्वयं एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की सामग्री हो सकती है। अन्त में, देशबन्धु ने न्यायाधीश और असेसरों को सम्बोधित करते हुए कहा—

"My appeal to you is this : That long after this controversy is hushed in silence; long after this turmoil, the agitation will have ceased, long after he is dead and gone, he will be looked upon as the poet of patriotism, as the prophet of nationalism and

the lover of humanity. Long after he is dead and gone his work will be echoed and re-echoed not only in India, but across distant seas and lands. Therefore I say that the man in his position is not only standing before the ban of this court but before the ban of the High court of History."

"मेरी अपील आपसे यह है कि इस षड्यन्त्र के मौन हो जाने के बहुत पश्चात्, इस आंधी-तूफान के समाप्त हो जाने के बहुत बाद, उनके देहावसान के बहुत बाद उन्हें संसार देशभक्ति का कवि, राष्ट्रीयता का मसीहा और समस्त मानवता का प्रेमी मानेगा। बहुत बाद तक उनके शब्द ध्वनित एवं प्रतिध्वनित होते रहेंगे, केवल इस देश में ही नहीं, अपितु समुद्र पार देश-देशान्तरों में। इसीलिए मेरा निवेदन है कि आज जो व्यक्ति आपके सामने कठघरे में खड़ा है, वह केवल आपके ही न्यायालय में नहीं खड़ा है, अपितु इतिहास के महान्यायालय में न्याय की माँग कर रहा है।"

दोनों असेसरों ने १३ अप्रैल, १९०९ ई० को श्रीअरविन्द को 'निर्दोष' घोषित किया। प्रायः महीने-भर बाद बीचक्राफ्ट ने भी असेसरों की राय मानकर श्रीअरविन्द को तो रिहा कर दिया, पर इनके ३६ साथियों को भिन्न-भिन्न काल के लिए जेल की सजा मिली।

अलीपुर-जेल में जिसे श्रीअरविन्द विनोदवश अलीपुर का 'गवर्मेण्ट होटल' कहा करते थे। श्रीअरविन्द ने अनेक कविताएं लिखीं—उनके केवल दो पद नीचे देते हैं—

I sport with solitude here in my regions.
Of misadventure have made me a friend.
Who would live largely ? who would live freely ?
Here to the wind-swept uplands ascend.
I am the lord of tempest and mountain,
I am the Spirit of freedom and pride.
Stark must he be and a kinsman to danger
Who shares my kingdom and walks at my side.

मैं अपने इस निराले देश में अपने एकान्त के साथ हँसता-खेलता हूँ। दु.साहस को मैंने अपना मित्र बनाया है। इस प्रकार, महिमा और स्वतन्त्रता में रह भी कौन सकेगा; वही, जो इस आँधी में ऊंचाई पर चढ़ सके।

मैं आँधी तूफान का स्वामी हूँ, मैं नगराज का अधीश्वर हूँ, मैं स्वतन्त्रता और

स्वाभिमान की आत्मा हूँ। इस मेरे साम्राज्य में जो आना चाहे और मेरे साथ रहना चाहे, वह अवश्य ही लोकलिप्सा से मुक्त और संकटों का प्रेमी होगा।

इस एक वर्ष के एकान्तवास का श्रीअरविन्द के जीवन पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि यह एक वर्ष का जेल-जीवन नहीं था, प्रत्युत वनवास या आश्रमवास था। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का क्रोध ही मेरे लिए वरदान हो गया और इसका फल यह हुआ कि मुझे भगवान् मिल गये।

श्रीअरविन्द पूरे साल-भर पर जेल से मुक्त हुए, पर उनका सारा दृष्टिकोण और अन्तर्जगत् बदल गया था। वे एक योगी के रूप में बाहर आये, जो गीता के अनुसार 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन', 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च' की सिद्धि प्राप्त कर चुका हो; एक क्रान्तदर्शी ऋषि के रूप में बाहर निकले, जो काल का परदा फाड़कर भविष्य को देख सकता है, जो जन्म-मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो अनन्त पथ का पथिक है, जो अपने भागवत जीवन में भागवत उद्देश्य को ही पूरा करना चाहता है, जो एकमात्र उसी के लिए जीता है और आवश्यकता पड़ने पर उसी के लिए ही शरीर का त्याग भी कर देता है।

पाण्डिचेरी में : स योगी मयि वर्तते

जेल से लौटने पर श्रीअरविन्द ने देखा कि देश की राजनीतिक चेतना एकदम अवसन्न हो गई है, जनता का भाव ही बदल गया है। उन्होंने फिर नूतन प्रभाव भरना चाहा और कलकत्ता में साप्ताहिक सभाएँ होने लगीं, परन्तु पहले जहाँ सहस्र-सहस्र व्यक्ति इनकी सभाओं में आते थे, वहाँ अब कठिनाई से सौ दो सौ आते और वे भी डरते हुए, सहमते हुए। भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाकर ये भाषण देते, पर जनता हतप्रभ हो गई थी, उसमें वह पहले का न उत्साह था, न साहस की स्फूर्ति। श्रीअरविन्द ने दो साप्ताहिक पत्र निकाले 'कर्मयोगी' अंगरेजी में और 'धर्म' बंगला में। ग्राहकों की संख्या इतनी थी कि ये दोनों पत्र तुरत स्वावलम्बी हो गये।

पर जनता में उत्साह न था। सरकार का दमनचक्र बड़े जोर पर था। श्रीअरविन्द यह सब देखकर निराश या हतोत्साह न हुए। वे भगवान् के हाथ में यन्त्रमात्र थे। उन्होंने कहा—"दमन है भगवान् के हाथ का हथौड़ा, जो चल रहा है हम लोगों को सही साँचे में ढालने के लिए, इसलिए कि हम एक महान् राष्ट्र के रूप में, भगवत्कर्म के लिए भगवान् के हाथ का एक सुदृढ़ यन्त्र बन सकें। उसकी निहाई पर हम लोहे की तरह हैं, जिसपर चोट पर चोट पड़ रही है, हमें समाप्त कर देने के लिए नहीं, अपितु नवजीवन प्रदान करने के लिए। कष्ट के बिना विकास होता नहीं।"

नेशनलिस्ट पार्टी समाप्तप्राय हो गई थी। इसके कई नेता जेलों में थे और कुछ जो बाहर थे, वे स्वतः एकान्तवास का जीवन बिता रहे थे।

'कर्मयोगी' राष्ट्रधर्म, साहित्य, विज्ञान और दर्शन का पत्र था। मुखपृष्ठ पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ को हाँकते हुए अंकित थे और आदर्शवाक्य—मोटो के रूप में गीता का एक वाक्य था—'योगः कर्मसु कौशलम्'। पत्र का उद्देश्य था राष्ट्र की आत्मा का विकास; किस प्रकार अपने नित्य के कर्म में मनुष्य योग और वेदान्त को आचरित कर सकता है यही बताना था इस पत्र का लक्ष्य। इसी में श्रीअरविन्द ने केनोपनिषद् तथा कठोपनिषद् का अंगरेजी भाष्य छापा तथा अपनी अनेकानेक कविताएँ प्रकाशित कीं। कालिदास के 'ऋतुसंहार' तथा बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' का भी अँगरेजी अनुवाद इसमें छपा। श्रीअरविन्द पूरी निर्भीकता और साहस के साथ अपने राजनीतिक एवं आध्यात्मिक विचारों का प्रचार करते रहे। 'कर्मयोगी' में 'भारत का मस्तिष्क' The Brain of India तथा The Ideal of the Karmayogin शीर्षक बहुत ही ओजस्वी लेखमालाएँ छपीं। उन्होंने बार-बार राष्ट्र को चेताया कि पश्चिम की नकल कर लेने से, विधवा-विवाह से या अन्तरजातीय विवाह, अन्तरजातीय भोज आदि बाहरी आचारों और सुधारों से राष्ट्र की काया नहीं पलट सकती। काया पलटने के लिए अन्तरात्मा को उद्बुद्ध करना होगा, आत्मा के जगे बिना कुछ न होगा।

परन्तु, यह विदेशी सरकार श्रीअरविन्द के व्यक्तित्व की आँच सहन नहीं कर सकती थी। वे बराबर उसकी आँखों में शूल की तरह चुभते रहे। सरकार जानती थी कि जब तक 'बाहर' श्रीअरविन्द विद्यमान हैं, तबतक उसकी दमननीति किसी प्रकार भी सफल न होगी। इन्हें देशनिकाला देने की बात सरकार के दिमाग में आई। यह बात किसी प्रकार सिस्टर निवेदिता को मालूम हो गई। उन्होंने श्रीअरविन्द को तत्काल सूचित किया कि इन्हें ब्रिटिश भारत से बाहर जाकर अपने कार्य का संचालन करना चाहिए। इसपर श्रीअरविन्द ने अपने हस्ताक्षर से 'कर्मयोगी' में एक लेख लिखा, जिसमें देश की राजनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन था। इसके कुछ ही बाद श्रीअरविन्द को एक रात में खबर मिली कि पुलिस 'कर्मयोगी' कार्यालय की तलाशी लेने तथा श्रीअरविन्द को गिरफ्तार करने आ रही है। श्रीअरविन्द सोचने लगे कि ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए; उन्हें तत्काल दैवी संकेत मिला कि ब्रिटिश इण्डिया को छोड़कर फ्रेंचों के चन्द्रनगर में चले जाना चाहिए। भगवान् का यह संकेत पाकर वे तत्काल, बिना सोच-विचार के, बिना किसी की राय-सलाह के, जैसे थे वैसे ही, दस मिनट के अंदर गंगा पार कर चन्द्रनगर पहुँच गये और वहाँ अज्ञातवास करने लगे। वहीं से इन्होंने सिस्टर निवेदिता को लिखा

कि वे 'कर्मयोगी' के सम्पादन भार को स्वीकार करें। इस प्रकार, 'कर्मयोगी' और 'धर्म' के सम्पादन-भार से मुक्त होकर चन्द्रनगर में प्रायः एक मास एकान्त अज्ञात जीवन व्यतीत करते हुए वे अपनी एकान्त साधना और ध्यान में लीन रहे। परन्तु, चन्द्रनगर में इन्हें रहना नहीं था। जिस अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से ये कलकत्ता से हटकर चन्द्रनगर आ गये थे, उसी अज्ञात शक्ति की दिव्य प्रेरणा से ये चन्द्रनगर से हटकर पाण्डिचेरी आ गये। कलकत्ता से उत्तरपाड़ा के क्रान्तिकारियों से भरी एक नाव आई और इन्हें कलकत्ता ले गई। वहाँ से वे 'डूप्ले' जहाज में बैठकर ४ अप्रैल, १९१० ई० को पाण्डिचेरी पहुँचे। यहाँ आकर वे पहले शंकर चेट्टी के यहाँ ठहरे, पर बाद में अपने 'ह्वाइट टाउन' वाले मकान में चले गये। अब वे सर्वथा 'योग-साधना' में डूब गये।

'कर्मयोगी' में श्रीअरविन्द का अन्तिम लेख था देश के नाम खुली चिट्ठी। उसमें श्रीअरविन्द ने यह बतलाया था कि सभी महान् आन्दोलनों का संचालन करने के लिए भगवान् अपना प्रियजन भेजता है। इस नैशनलिस्ट पार्टी को भी उस महापुरुष के शुभागमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए।....

इस कारण उन्होंने समस्त देशवासियों को ललकारा कि यह भगवान् का काम है, दृढ़ देशभक्तों की तरह हम इसमें जुट जायँ, चाहे जो कुछ भी त्यागना पड़े, उसे त्यागने के लिए तैयार, चाहे जो कुछ भी करना पड़े, करने-मरने के लिए तैयार—क्योंकि हमारा लक्ष्य महान् है।

इस लेख पर सरकार ने आपत्ति की और मुकदमा चलाया। परन्तु, श्रीअरविन्द तो पाण्डिचेरी जा चुके थे। अब सरकार उनका क्या कर सकती थी? सर जॉन वुड्रफ, जिन्होंने 'आर्थर एवलन' नाम से अनेक शाक्ततन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं—इस मामले में न्यायाधीश थे। उन्होंने निर्णय दिया कि 'ओपन लेटर' में षड्यन्त्र या राजद्रोह की कोई भी बात नहीं है। इस प्रकार, ब्रिटिश गवर्मेण्ट द्वारा चलाया हुआ श्रीअरविन्द पर यह तीसरा मुकदमा भी पहले दो मुकदमों की तरह व्यर्थ सिद्ध हो गया।

पाण्डिचेरी पहुँचकर श्रीअरविन्द अधिकाधिक योगसाधना में संलग्न हो गये। किसी भी जन-आन्दोलन से उन्होंने अपना सक्रिय सम्बन्ध तोड़ लिया; और उनसे दो बार इण्डियन नेशनल काँगरेस का सभापतित्व करने की प्रार्थना की गई, परन्तु दोनों ही बार उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने नियम बना लिया कि किसी भी राजनीतिक समारोह में वे भाग न लेंगे और न कहीं भी पब्लिक में बोलेंगे ही। लाला लाजपत राय, देवदास गान्धी और देशबन्धु इन्हें राजनीति में लौटा लाने तथा काँगरेस का सभापतित्व स्वीकार कराने के लिए पाण्डिचेरी आये, पर उनका प्रयत्न

व्यर्थ हुआ। उन्होंने देशबन्धु से कहा कि 'एक महती शक्ति की खोज में मैं हूँ। यदि वह शक्ति मिल गई, तो उसी को आधार बनाकर अपना कार्य अपने ढंग से करूँगा।' कुछ दिन तक अपने दो एक क्रान्तिकारी मित्रों के साथ उन्होंने पत्र-व्यवहार रखा, परन्तु आगे चलकर उसे भी बन्द कर दिया। एक सच्चे भविष्यद्रष्टा की तरह उन्होंने यह देख और समझ लिया कि भारतवर्ष की साधना ही उसे मुक्ति दिला सकती है और आन्तरिक परिस्थिति तथा अन्तराष्ट्रीय घटना-चक्र इस प्रकार का होगा कि देश विदेशी राज्य से स्वतन्त्र हो जायगा। अँगरेजी राज्य के विरुद्ध क्षोभ और असन्तोष का वातावरण बनाये रखना अनिवार्य था, पर सशस्त्र गुप्त क्रान्ति की आवश्यकता अब नहीं थी। इस प्रकार, सन् १९१० ई० में श्रीअरविन्द राजनीति से एकदम तटस्थ हो गये।

भारतवर्ष की राजनीतिक स्वतन्त्रता का कुछ अर्थ ही नहीं है, यदि आध्यात्मिक बन्धन ज्यों-के-त्यों बने रहे। राष्ट्र का क्षात्र तेज तो जगना ही चाहिए, पर यदि ब्रह्मतेज मूर्च्छित पड़ा रह गया, तो वह क्षात्र तेज भी क्या कर लेगा? इसीलिए श्रीअरविन्द ने ब्रह्मतेज को उद्बुद्ध कर देश की आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत् करने का बीड़ा उठाया। इसका संकेत बहुत पहले 'कर्मयोगी' के एक लेख में मिल चुका था, जिसमे श्रीअरविन्द ने लिखा था: "भारत की आत्मा का उद्बोधन और विजय धर्म के द्वारा ही हुई है"—*It was in religion first that the soul of India awoke and triumphed.*

श्रीअरविन्द का वास्तविक जीवन, योग-जीवन अब से ही शुरू होता है, परन्तु यह सचमुच इतना गहन और गम्भीर है कि इसकी थाह पाना असम्भव है। ये अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रीभूत कर योगसाधना में लग गये। यों, योगसाधना तो सन् १९०४ ई० से ही श्रीअरविन्द ने शुरू कर दी थी और योग का नाम जानते हुए भी योग के अनुभव इन्हें बहुत पहले ही हो चुके थे। विलायत से लौटते समय बम्बई के अपोलो बंदरगाह पर जब ये उतरे, तब एक अपार अनिर्वचनीय शान्ति इन्हें घेरे हुए थी—जैसे शान्ति में ये भीतर-बाहर स्नान कर रहे हों। कई महीने तक यह शान्ति बनी रही। कश्मीर में तो तख्त-ए-सुलेमान के पास जब ये एक बार टहल रहे थे, तब एक अनन्त अपरिमेयता की सत्ता की अनुभूति इन्हें हो चुकी थी। नर्मदा के तट पर एक मन्दिर में काली का साक्षात्कार हो चुका था, बड़ौदा में एक दुर्घटना में भगवान् के अमोघ आश्रय का इन्हें खूब अनुभव हो चुका था। परन्तु, ये अनुभूतियाँ किसी साधना का फल न थीं, वे थीं स्वत: स्फूर्त्त और अनायास। और, सच तो यह है कि श्रीअरविन्द ने बिना किसी गुरु के ही गंगामठ के स्वामी ब्रह्मानन्द के एक शिष्य

प्राय. ध्यानस्थ रहता था। साधना के एक विशेष विषय पर ही वह वाणी बोलती रही और जब वह विषय समाप्त हो गया, तब वह वाणी भी बन्द हो गई।"

पाण्डिचेरी आने के पहले श्रीअरविन्द बड़ौदा मे जनवरी, १९०८ ई० मे मराठा योगी विष्णु भास्कर लेले के साथ ध्यान कर चुके थे और यह अनुभव कर चुके थे कि मन की मौन शान्ति मे ब्रह्म का साक्षात्कार कितना सुगम है। अलीपुर-जेल में 'वासुदेवः सर्वमिति' का साक्षात् अनुभव किया था और इस प्रकार उन्होंने साधना का रस और सिद्धि की झलक पाण्डिचेरी आने के पहले ही पा ली थी। पाण्डिचेरी पहुँचने पर चार वर्ष तक तो श्रीअरविन्द एकदम चुप रहे, जगत् से तटस्थ साधना मे लीन। इस अवस्था की द्योतक 'निर्वाण' शीर्षक कविता की कुछ ये पंक्तियाँ हैं:

"एकमात्र असीम शाश्वतता विराज रही है; अगाध, अपार, अव्यक्त शान्त और निश्चल है यहाँ की शान्ति जो सबको छा रही है। एक बार जो कुछ था, वह है मौन अनाम रिक्तता, जो अज्ञेय मे डूब जाती है या अनन्त प्रकाश के स्पर्श से हर्ष-पुलकित हो जाती है।"

सन् १९१०ई० में श्रीअरविन्द पाण्डिचेरी आये। चार वर्ष के अखण्ड मौन के बाद सन् १९१४ ई० मे एक दार्शनिक-आध्यात्मिक मासिक पत्र 'आर्य' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। ईशोपनिषद्, गीताप्रबन्ध, दिव्य जीवन, योगसमन्वय आदि इनके सभी प्रमुख ग्रन्थ 'आर्य' में ही धाराप्रवाह निकले। योगाभ्यास के दिव्य अनुभव इन ग्रन्थों में संकलित हैं। इसी समय इंगलैंड और बडौदा में लिखी कविताओं का प्रकाशन भी शुरू हुआ। पूरे साढे छह साल चलकर सन् १९२१ ई० मे 'आर्य' का प्रकाशन बन्द हो गया।

पाण्डिचेरी के आरम्भ मे तो श्रीअरविन्द कुल चार-पाँच साथियो के साथ एकान्त-वास मे रहे। धीरे-धीरे और लोग भी अध्यात्म-साधना मे आदेश पाने के लिए आने लगे। इस भागवत जीवन से आकृष्ट होकर आनेवालों की संख्या इतनी हो गई कि एक 'आश्रम' की स्थापना हुई और यही है श्रीअरविन्दाश्रम। यह आश्रम अपने-आप बढ़ता, फूलता-फलता और विकसित होता गया।

श्रीअरविन्द ने अपने योग के अन्दर संन्यास को कभी स्वीकार नहीं किया। आश्रम के साथ संन्यास की बद्धमूल भावना का ठीक विरोधी है पाण्डिचेरी का श्रीअरविन्दाश्रम। यहाँ गैरिकवसन संन्यासी नहीं रहते, यहाँ रहते हैं साधक—जिनका जीवन आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर निर्मित है और इसका लक्ष्य है इस पृथ्वी पर और जिसे हम जड़ कहते हैं, [illegible] मे भगवदीय चेतना का अवतरण।

कितने लोग, जो योग की प्रक्रिया और [illegible] हैं, श्रीअरविन्द एकान्तवास को श्रीअरविन्द का जगत् मे [illegible] वैसा मानते भी:

परन्तु, श्रीअरविन्द ने जिस अध्यात्म में इस विश्व का ही दिव्यीकरण माना है उसमे इस जड़ जगत् की उपेक्षा या अवहेलना कैसे हो सकती है? श्रीअरविन्द इस जड़ जगत् में ही भागवत चेतना उतारना चाहते हैं। फिर, ऐसा योगी इस जगत् का तिरस्कार क्यों करेगा? वे सम्पूर्ण जगत् और सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बनाना चाहते हैं और इसलिए पाण्डिचेरी जाने पर भी संसार की ओर से उन्होंने आँखें फेर ली हों, ऐसा नहीं है। संसार में क्या हो रहा है, इसपर उनकी बड़ी सतर्क दृष्टि रही है। उन्होंने यह अवश्य ही माना है कि संसार की किसी भी शक्ति से बढ़कर है आध्यात्मिक शक्ति, आत्मा की शक्ति और उसी को जाग्रत् करने तथा जगत् में कार्यशील करने में वे सदा प्रवृत्त रहे।

फिर भी, दो बार व्यक्त रूप मे वे इस जगत् के बाह्य व्यापार मे उतरे। द्वितीय विश्वयुद्ध में डंकर्क के भयानक घेरे के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि नाजीवाद की विजय-वैजयन्ती इंगलैंड पर फहराने लगेगी और हिटलर की विजय होगी। उस समय, जब इंगलैंड का सर्वनाश स्पष्टतः सामने था, श्रीअरविन्द ने घोषणा की कि वे सर्वथा अँगरेजों के साथ हैं, कुछ आर्थिक सहायता भी प्रदान की और लोगों को सेना में भरती होने का प्रोत्साहन भी दिया। उन्होंने अपनी सारी आध्यात्मिक शक्ति को अँगरेजों के पक्ष में लगा दिया और परिणाम भी क्या चमत्कारी हुआ। जर्मन-सेना हार खाने लगी और फिर जो हुआ, सर्वविदित है। श्रीअरविन्द ने यह अनुभव किया कि हिटलर के संरक्षण मे सम्पूर्ण नाजी शक्ति एक घोर आसुरी शक्ति है और विश्व के कल्याण के लिए इसका अन्त हो ही जाना चाहिए।

एक बार और श्रीअरविन्द भारतीय राजनीति में व्यक्त रूप से आये और वह उस समय जब सर स्टैफर्ड क्रिप्स अपना मिशन लेकर भारतवर्ष में आये थे। श्रीअरविन्द ने अपना विशेष दूत भेजकर काँगरेस के नेताओं तक अपनी यह इच्छा पहुँचाई कि 'क्रिप्स आफर' को स्वीकार कर लेने मे ही देश का वास्तविक कल्याण और महान् मंगल है। पर काँगरेस के नेताओं ने इसकी बात हँसकर टाल दी। परन्तु, आज हम अनुभव करते हैं कि यदि 'क्रिप्स आफर' को स्वीकार कर लिया गया होता, तो न देश का यह दुःखद विभाजन होता और न लाखों व्यक्ति बेघर-द्वार के होते और न करोड़ों की सम्पत्ति बरबाद ही होती। परन्तु, अब उसपर रोने-धोने से क्या लाभ?

इतनी लम्बी अवधि तक—पूरे चालीस वर्ष, पाण्डिचेरी मे रहकर श्रीअरविन्द ने क्या किया, यह बताना कठिन है। वह है एक प्रयोगशाला की बात, जिसे प्रज्ञान-चेता ही जानते हैं। परन्तु-पाण्डिचेरी-आश्रम में जिसे रहने या वहाँ जाने का ही सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह इस प्रयोगशाला को देखकर दंग रह जाता है। हम

सुनते थे कि काकमुसुण्डि के आश्रम के कई योजन चारों ओर काम, क्रोध, लोभ और मोह का प्रवेश न था, परन्तु हममें से अधिकाश व्यक्ति या तो इसे दन्तकथा मानते हैं या अतिशयोक्ति। लेकिन, श्रीअरविन्दाश्रम मे रहने पर पता चलता है कि वह बात अक्षरश: सत्य हो सकती है; क्योंकि यहाँ भी मनुष्य इन विकारों से अद्भुत विमुक्ति अनुभव करता है। यहाँ जीवन खिलते हुए, बराबर खिलते जाते हुए कमल की तरह पवित्र और सुरभित है। आश्रम मे पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं, युवा हैं, युवतियाँ हैं, शिशु हैं, पर सभी हैं खिलते फूल की तरह हँसते, उन्मुक्त पक्षियों की तरह चहकते। उदासी क्या होती है, मनहूसियत क्या बला है, वहाँ प्राय: कोई जानता ही नहीं। आश्रम की भीतरी-बाहरी स्वच्छता और पवित्रता, वहाँ का उमड़ता हुआ आनन्द और मुस्काता हुआ सौन्दर्य एकबारगी मन को मोह लेता है। वहाँ की प्रसन्नता, सरलता, स्वच्छता और पवित्रता संक्रामक है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि सम्पूर्ण जीवन ही योग है—All life is Yoga। जीवन के प्रत्येक स्तर पर यदि भागवती चेतना में हम स्थित होकर भगवान् का यन्त्र बनकर काम करते हैं, तो अवश्य ही हमारा जीवन ही योग है; क्योंकि हम भगवान् में युक्त हैं। श्रीअरविन्द की दो ही महान् कृतियाँ Life Divine तथा Savitri ससार मे श्रीअरविन्द को चिरकाल के लिए अमर कर देने के लिए पर्याप्त हैं।

श्रीअरविन्द ने ५ दिसम्बर, १९५० ई०, को १ बजकर २६ मिनट पर रात्रि मे महासमाधि ले ली। माताजी ने ७ दिसम्बर को एक सन्देश मे बतलाया कि जबतक श्रीअरविन्द का मिशन पूरा न होगा, तबतक वे इस पृथ्वी को छोड़ेंगे नही। पूरे १११ घण्टे तक श्रीअरविन्द के शरीर में दिव्य ज्योति की प्रभा बनी रही। मालूम होता था कि शरीर में किसी प्रकार का विकार हुआ ही नहीं है। माताजी ने १४ दिसम्बर को जो अपना सन्देश दिया, उसमे कहा कि श्रीअरविन्द के लिए दु:खी होना श्रीअरविन्द का अपमान करना है। श्रीअरविन्द हम लोगों के साथ हैं—पहले की तरह चेतन और सजीव। वे हम लोगों को छोड़कर जा नहीं सकेंगे। हम उनकी उपस्थिति को पहले की तरह, पहले से भी अधिक जाग्रत् और जाज्वल्यमान अनुभव करते हैं। वे सदा हमारे साथ हैं, जो कुछ हम कर रहे हैं, सोच रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं, सबके द्रष्टा के रूप में। २४ अप्रैल, १९५१ ई० को जब समुद्रतट पर डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के सभापतित्व मे अधिवेशन हुआ था, तब उसका उद्घाटन करते हुए माताजी ने कहा था—"श्रीअरविन्द हमारे बीच मौजूद हैं और अपनी सृजनशील प्रतिभा की पूरी शक्ति के साथ विश्वविद्यालय के इस आयोजन को देख-रेख कर रहे हैं। वर्षों से वे ऐसे विश्वविद्यालय को भावी मानव-जाति को अतिमानसिक प्रकाश के लिए तैयार करने के सर्वोत्तम साधन के रूप में सोचा करते थे, उस अतिमानस

प्रकाश के लिए जो कि आज के विशिष्ट व्यक्तियों को पृथ्वी पर नया प्रकाश, नई शक्ति और नया जीवन अभिव्यक्त करनेवाली नयी जाति में रूपान्तरित कर देगा।

उन्हीं श्रीअरविन्द के नाम पर मैं इस विशेषाधिवेशन का उद्घाटन करती हूँ जो कि उनके एक विशेष प्रिय आदर्श को चरितार्थ करने के उद्देश्य से होने जा रहा है।"

यह सचमुच आध्यात्मिक विश्व के लिए महान् दुर्घटना है कि जब संसार में श्रीअरविन्द के सम्बन्ध मे जानने की उत्सुकता अधिकाधिक बढ रही थी और उनकी योगसाधना की ओर संसार के अधिकाधिक साधक मुड़ रहे थे, श्रीअवरन्दि ने यकायक महासमाधि ले ली। पर, श्रीअरविन्द सदा से ही ऐसी लीला करते आये थे। उनके लिए यह कोई नई बात नही थी। आइ० सी० एस्० को त्याग कर बड़ौदा की नौकरी की, और जब बड़ौदा मे उनकी ख्याति खूब विस्तार पर थी, उन्होंने उसे ठुकराकर बंगाल में राजनीतिक फकीर का जीवन बिताना अधिक पसन्द किया और वहाँ जेल में इन्हे भगवत्साक्षात्कार हुआ और फिर वे अखिल-भारतीय नेता बन गये। फिर, एक रात को सहसा वे गंगा पार कर चन्द्रनगर और वहाँ से पाण्डिचेरी पहुँचते हैं और अज्ञात जीवन बिताने लगते हैं। वहाँ से इनकी आध्यात्मिक ज्योति जगत् से विकीर्ण होकर सारे संसार पर छा ही जाना चाहती है कि ये सदा के लिए समाधि ले लेते हैं। कीर्त्ति सदा हाथ जोड़े इनके पीछे-पीछे चलती रही, पर इन्होंने कभी पीछे मुड़कर इसकी ओर निहारा तक नहीं। सच पूछा जाय, तो इस महान् त्याग का वरण वे सदा हमारे लिए करते गये और उनकी महासमाधि भी मानवता के महान् कल्याण के लिए ही है। उन्होंने अपनी विराट्-काय पुस्तक 'सावित्री' में सांकेतिक रूप मे इस घटना का वर्णन किया है—

> A day may come when She must stand unhelped
> On a dangerous brink of the world's doom and hers
> In that tremendous silence lone and lost
> Cry not to heaven for, she alone can save.
> She only can save herself and save the world.

यह स्पष्ट ही माताजी की ओर संकेत है और इस संकेत को हम सभी पूरी तरह, अच्छी तरह समझ रहे हैं।

नवम्बर, १९५०ई० का सिद्धिदिवस का दर्शन श्रीअरविन्द का अन्तिम दर्शन था। तब इन पंक्तियों का लेखक भी सौभाग्यवश वहीं था। श्रीअरविन्द और माताजी सिंहासन पर विराजमान थे। हजारों दर्शनार्थी माल्यपुष्प लिये शान्तिपूर्वक पंक्ति बाँधकर

दर्शनों के लिए आते जा रहे थे। सारा कार्यक्रम बडे आनन्दमंगल के साथ सम्पन्न हुआ। पहली और दूसरी दिसम्बर को स्कूल का वार्षिकोत्सव था, खूब धूमधाम और चहल-पहल। पर, कौन जानता था कि इसके बाद ही एक महान् दु:खान्त अभिनय होनेवाला है। श्रीअरविन्द को इस उत्सव की सानन्द समाप्ति का जब समाचार मिला, वे बहुत प्रसन्न हुए और पूछा—'अच्छा, समाप्त हो गया' ?

५ दिसम्बर को श्रीअरविन्द ने महासमाधि ले ली, पर लगभग चार दिन तक उनका दिव्य शरीर ज्योतिर्मय तेजपुञ्ज से आलोकित रहा। पाँचवें दिन शाम को आश्रम के आँगन में उन्हें समाधि दे दी गई—पूरब की ओर सिरहाना और पश्चिम की ओर पैर करके। परन्तु आश्रम में किसी प्रकार का विषाद नहीं फैला। माताजी ने कहा ही था कि श्रीअरविन्द के लिए रोना श्रीअरविन्द का अपमान करना है।

हम लोग, जिनका आश्रम से सम्बन्ध है, जिन्हें श्रीअरविन्द के दर्शनों का सौभाग्य एक बार भी हुआ है, यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि श्रीअरविन्द यथापूर्व अब भी विद्यमान हैं और जबतक इस जगत् के दिव्य रूपान्तर का कार्य पूरा नहीं हो जाता, तबतक वे हमारे बीच बने रहेंगे।

और, महामहिमामयी, जगज्जननी महालक्ष्मी, महासरस्वती महामहेश्वरी-रूपा यह हमारी माँ जबतक हमारे सामने हैं, तबतक किसी भी बात की चिन्ता क्यों ?

माँ, तेरी जय हो !

अनुक्रमणी

प

य

ल

व

स